सितम्बर–अक्टूबर 2015, अंक 1, वर्ष 1
मूल्य 30 रूपये
ISSN 2454-6879

देस हरियाणा

सामाजिक–सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का मंच

विमर्श में भाषा

भाषा नीति के बारे में अंतर्राष्ट्रीय खोज
प्रो. जोगा सिंह

बहुभाषिक संदर्भ में मातृभाषा माधयम में शिक्षा
सुमित सौरभ (अनु.)

राष्ट्रीय एकता और भाषा की समस्या
भीष्म साहनी

मातृभाषा है माता समान
महात्मा गांधी

हिन्दी के संदर्भ में
राम मनोहर लोहिया

कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार
मुंशी प्रेमचंद

भाषा का साम्राज्यवाद
न्यूगगी थ्योंगो

भाषाओं की क़ब्रगाह बन गया भारत
गणेश देवी

देस हरियाणा

सितम्बर 2015 **प्रवेशांक**

सम्पादक : सुभाष चंद्र

सम्पादन सहयोग : राजबीर पाराशर, जयपाल, धर्मवीर, कृष्ण कुमार, अशोक शर्मा

व्यवस्था सहयोग : विपुला, विजय विद्यार्थी

शब्द संयोजन : दविन्द्र सिंह सैनी

चंदे की दरें :

सामान्य : एक वर्ष 200 रुपए, दो वर्ष 350 रुपए तीन वर्ष 500 रुपए

मित्र : एक वर्ष 500 रुपए दो वर्ष 1000 रुपए

विशेष सहयोग : पांच वर्ष पांच हजार आजीवन 10 हजार

संस्थाओं के लिए : एक वर्ष 500 रुपए

देस हरियाणा

पता : 912, सैक्टर-13, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)-136118

मो : 094164-82156

Email : desharyana@gmail.com

नोट : लेखकों द्वारा उनकी रचनाओं में प्रस्तुत विचार एवं दृष्टिकोण उनक अपने हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं।
समस्त कानूनी विवादों का न्याय क्षेत्र कुरुक्षेत्र न्यायालय होगा
सम्पादन एवं संचालन अव्यवसायिक एवं अवैतनिक

ISSN प्रक्रिया में है।

अनुक्रम

सम्पादकीय : विमर्श में भाषा 2

आलेख : प्रो. दिनेश दधीची : हिंदी दिवस के निहितार्थ 7

प्रो. जोगा सिंह : भाषा नीति के बारे में अंतर्राष्ट्रीय खोज 9

प्रो. रणवीर सिंह : वैदिक साहित्य में भाषाई चिन्तन 61

दीप चंद निर्मोही : हिन्दी : ऐतिहासिक संदभ 63

किंशुक पाठक : मर रही भारतीय भाषाओं के पुनर्जीवन की चुनौती 67

अरुण कुमार कैहरबा : स्कूलों में भाषा शिक्षण की निराशाजनक दशा 87

आलोक वाजपेयी : भाषायी साम्प्रदायिकता : कुछ विचार बिन्दु 94

अनिल चमड़िया : अपनी रीडिंग हैबिट ठीक करें 95

दस्तावेज : राजभाषा संबंधी संवैधानिक प्रावधान 49

सुमित सौरभ (अनु.) बहुभाषिक संदर्भ में मातृभाषा माध्यम में शिक्षा 14

स्मृति : भीष्म साहनी : राष्ट्रीय एकता और भाषा की समस्या 29

विरासत : महात्मा गांधी : मातृभाषा है माता समान 32

राम मनोहर लोहिया : हिन्दी के संदर्भ में 35

मुंशी प्रेम चंद : कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार 37

चिंतन : न्यूगगी थ्योंगो - भाषा का साम्राज्यवाद 43

कहानी : अमित मनोज - असुंदर 22 ; ब्रह्म दत्त शर्मा : फैसला 25

कविता : रसूल हमजातोव 52; भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 53; साहिर लुधियानवी 54; रघुवीर सहाय 54; भगवत रावत 55; जगदीप सिंह 56; सत्यपाल सहगल 57; मलखान सिंह 58; दीपक राविश 59; मनोज छाबड़ा 60; अविनाश सैनी 68; जयपाल 28

संवाद : गणेश देवी - भाषाओं की क़ब्रगाह बन गया भारत 65

व्यंग्य : संतोष श्रीवास्तव - कितनी मेहनत से अँग्रेजी आई है 69

पॉप संस्कृति : नवीन रमन - पॉपुलर हरियाणवी गीत 71

मीडिया : सही राम - हरियाणवी बोली में ग्लैमर का तड़का 74

प्रसंगवश : विकास नारायण राय - दिल्ली का छाया युद्ध 77

अनुभव : दर्शन बवेजा - विज्ञान : हिंदी बनाम अंग्रेज़ी 81

वरूण कुमार - मातृभाषा और विज्ञान शिक्षण पर मेरा अनुभव 79

बलदेव सिंह महरोक - भाषा की पीड़ा 82

सरोज बुरडक - अपनी भाषा देश पराया 83

टिप्पणी : कमलेश चौधरी - शब्दों की टकसाल 76

डा. निशा सत्यजीत - लोकोक्तियां भाषा की रक्त संवाहिका 83

रागनी : रामफल जख़्मी 84 ; **दोहे :** लक्ष्मण सिंह 84

दलित नजरिया : अनिल चमड़िया-डा. भीमराव अम्बेडकर और भाषा 85

स्त्री नजरिया : निर्मला - भाषा और लैंगिक वर्चस्व 89

पुस्तक समीक्षा : जयपाल - मौन आहों में बुझी तलवार 90

ओम प्रभाकर - मुझे यक़ीन है कि पानी यहीं से निकलेगा 91

देवनारायण पासवान 'देव' - दलित अस्मिता एवं चेतना की कृति 92

गतिविधियां : 93

सम्पादकीय के बहाने

विमर्श में भाषा

मनुष्य के सांस्कृतिक विकास में भाषा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। मनुष्य के साथ-साथ भाषा और भाषा के साथ-साथ मनुष्य विकसित हुआ है। भाषा विचारों के आदान प्रदान का ही नहीं, बल्कि सोचने का माध्यम भी है। भाषा की सीमा और विस्तार का अर्थ मनुष्य के ज्ञान और विस्तार से है। इसीलिए महापुरुषों ने अपनी भाषा व समाज को समृद्ध करने के लिए दूसरी भाषा के ज्ञान को अपनी भाषा में अनुवाद किया है।

भारत बहुभाषी तथा बहुसांस्कृतिक देश है, जिसमें सैंकड़ों भाषाओं और बोलियों को बोलने वाले लोग रहते हैं। शायद ही दुनिया के किसी देश में ऐसी भाषायी विविधता देखने को मिले, जिसमें एक से एक समृद्ध भाषाएं हों, जिनमें विपुल साहित्य हो और समस्त कार्य की क्षमता हो। लेकिन यह भी सही है कि शायद ही दुनिया में कोई देश ऐसा हो, जिसमें आजादी के 67 साल बाद भी राजकार्य में विदेशी भाषा का इतना बोलबाला हो, कि अपनी भाषा में काम को प्रोत्साहन देने के लिए 'हिन्दी-दिवस', 'हिन्दी-सप्ताह', 'हिन्दी-पखवाड़ा' मनाना पड़े और तरह-तरह के तो इनाम के रूप में लालच देने पड़ते हों।

भारत के संविधान की आठवीं सूची में में स्वीकृत भाषाओं की संख्या 22 हैं। संविधान निर्माताओं ने राजभाषा के सवाल पर गम्भीर विचार-विमर्श के बाद अनुच्छेद 343 में देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी को राजभाषा का दर्जा दिया। तात्कालिक तौर पर अंग्रेजी को सहयोगी भाषा के तौर पर स्वीकार करते हुए उन्होंने संघ का कर्त्तव्य निर्धारित किया कि सन् 1965 तक हिन्दी राजभाषा के रूप में विकसित करे, परन्तु आजादी के सतासठ साल के बाद भी हिन्दी-दिवसों का मनाया जाना हमारे राजनेताओं, अफसरशाही की जनता की भाषा के प्रति प्रतिबद्धता व संविधान की भावनाओं के प्रति आदर तथा राष्ट्रीय स्वाभिमान को दर्शाता है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद में पली-बढ़ी नौकरशाही इस बात को मानने को तैयार ही नहीं कि अंग्रेजी बिना देश प्रगति कर सकता है, जबकि रूस, चीन, जर्मनी, जापान, फ्रांस, इटली जैसे देशों का उदाहरण भी सारी दुनिया के समक्ष है कि उन्होंने विज्ञान और तकनीकी विकास अपनी भाषा में ही किया है।

भाषा का सवाल मात्र भाषा का सवाल नहीं है व्यक्तिगत भावनाओं-विचारों की अभिव्यक्ति के साथ-साथ उसके तार देश-समाज के विकास और सत्ता संरचना से जुड़े होते हैं, विशेषकर लोकतंत्र में। भाषा संपर्क का सबसे विश्वसनीय माध्यम है और लोकतंत्र तभी मजबूत होता है जितना वह जनता के निकट आता है। सरकार तथा जनता में देश की नीतियों, उपलब्धियों तथा भावी योजनाओं के संवाद का जरिया भाषा ही है। जनता की भाषा में कामकाज से ही सरकार-प्रशासन व जनता के बीच की दूरी को कम किया जाता है। लेकिन यहां तो इसका उलटा ही होता है। जिसे एक स्थानीय अनुभव से समझा जा सकता है। हरियाणा के फतेहाबाद जिले की कोर्ट में किसान अपने मुकदमे की पैरवी स्वयं कर रहा था, तो जज महोदय ने कहा कि मुझे आपकी भाषा समझ नहीं आ रही है। आप वकील कर लीजीए। किसान ने सहज समझ जबाव दिया कि यदि आपको मेरी भाषा समझ नहीं आ रही, तो आप करो वकील। किसान का यह उत्तर सरकारी कामकाज की कार्यप्रणाली पर प्रश्नचिह्न लगाता है। सूचना के अधिकार के युग में जब पारदर्शिता की मांग की जा रही है तो इसके सबसे पहले जनता की भाषा में कामकाज की जरूरत है। भाषा राजकाज के कामों को जनता से दूर करने का सबसे बड़ा हथियार बन जाती है। सत्ता में भागीदारी से रोकने को सबसे विश्वसनीय और मारक हथियार। नागरिकों को अपनी भाषा में प्रशासनिक कार्य, न्याय व शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार के बिना लोकतंत्र अधूरा है। न्यायलय में लोगों की भाषा नहीं, बल्कि आभिजात्य की भाषा का वर्चस्व है। जिसको सजा मिली उसको पता ही नहीं चलता कि क्या बहस हुई। बस पता चलता है कि उसे इतने साल जेल में रहना है।

हिन्दी को राजभाषा के तौर पर स्वीकृति संविधान निर्माताओं के दिमाग की उपज नहीं थी, बल्कि यह स्वतंत्रता आन्दोलन के मूल्यों का हिस्से के तौर पर था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के आन्दोलन में भाषायी गुलामी से भी मुक्ति प्राप्त करनी थी। धीरे धीरे गुलामी के तमाम

कारकों से विशेषकर मानसिक गुलामी से छुटकारा पाना था, लेकिन आज जब हम यह बात कर रहे हैं तो गुलामी का अहसास ही समाप्त हो गया है। गुलामी के इस चिह्न को अपनी शोभा-आभूषण बना लिया है और इस आभूषण को धारण करने की होड़ लगी हुई है। अंग्रेजी सीखना बुरी बात नहीं है। आजादी के आन्दोलन के दौरान के उन सभी नेताओं को बहुत बढ़िया अंग्रेजी आती थी, जिन्होंने हिन्दी की राष्ट्रभाषा-राजभाषा के तौर पर स्वीकार करने की वकालत की थी। हां, हिन्दी न आना या अपनी भाषा न आना शर्म की बात जरूर है। इस शर्म को अंग्रेजी स्कूलों में तैयार की गई पीढी तो पी चुकी है, उसको हिन्दी की गिनती भी अंग्रेजी में बताकर समझानी पड़ रही है। मां-बाप बच्चे को हिन्दी अथवा स्थानीय भाषा की वर्णमाला की बजाए अंग्रेजी की वर्णमाला, अंग्रेजी में शरीर के अंगों के उच्चारण को गर्व से सिखाते हैं। यह सब अचानक नहीं हुआ, इसके लिए समाज की अभिजात्य वर्ग का तथा नौकरशाही का पूरा दिमाग लगा है। सन् 1948 में डा. राधाकृष्ण की अध्यक्षता में बना 'विश्वविद्यालय आयोग', सन् 1952 में डा. लक्ष्मण स्वामी मुदलियर की अध्यक्षता में बने 'माध्यमिक शिक्षा आयोग', सन् 1964 में डी.एस. कोठारी की अध्यक्षता में बने 'शिक्षा आयोग' आदि स्वतंत्र हिन्दुस्तान में जितने भी शिक्षा आयोग बने उन सबने मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने की सिफारिश की। भारतीय भाषाओं और हिन्दी को विकसित करने के लिए त्रि-भाषा सूत्र जैसे कितने ही उपाय सुझाए। लेकिन औपनिवेशिक मानसिकता और वर्ग स्वार्थों का वायरस सबको निकल गया। लोक सेवा आयोग की प्रतियोगी परीक्षाओं में अंग्रेजी माध्यम बने रहने के कारण मेधावी व महत्त्वाकांक्षी छात्रों को अंग्रेजी की ओर धकेलने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। पूरे देश में अंग्रेजी माध्यम और कान्वेट स्कूलों के कारोबार फलने-फूलने के पीछे यही कारण है। इनकी परिकल्पना में ही था कि जो यहां पढ़ेगा वह अफसर बनकर ही निकलेगा, इसीलिए अफसरशाही की प्रतीक 'टाई' इनकी वर्दी का अनिवार्य हिस्सा बनी। सत्ता में भागीदारी का द्वार बनकर उभरे अंग्रेजी माध्यम के विद्यालय और स्थानीय मातृभाषाओं के विद्यालय में रह गई प्रजा। जब इस दोहरी व्यवस्था की आलोचना होने लगी और शासनकर्ताओं की मंशा को कटघरे में खड़ा करना शुरू किया तो हरियाणा जैसे राज्य जो हिन्दी भाषा के आधार पर ही अस्तित्व में आया, उसमें भी सरकारी विद्यालयों में भी प्रथम कक्षा से ही अंग्रेजी विषय अनिवार्य कर दिया।

पिछले दिनों में मेरे पास कई छात्र अपना दर्द सुना चुके हैं कि उन्होंने हिन्दी माध्यम से एम ए की। लेकिन देश के कथित 'प्रगतिशील' विश्वविद्यालय में एम फिल - पी एचडी में इसलिए दाखिला नहीं मिल पा रहा कि वहां के शिक्षकों को हिन्दी भाषा नहीं आती। वहां अंग्रेजी में आनी जरूरी है। औपनिवेशिक मानसिकता से पता नहीं ये लोग कब मुक्त होंगे। इनकी अयोग्यता जनभाषा में शिक्षा पाने वालों के विकास में बाधा बन रही है। कोई इन महापंडितों से पूछे कि बागड़ी बोली पर शोध करने के लिए अंग्रेजी में महारत की क्या जरूरत है। कोई पूछे कि आपको कोई भारतीय भाषा नहीं आती और मौलिक शोध का दावा कर रहे हो। जिन अंग्रेजी विद्वानों ने भारत पर शोध किया उन्होंने पहले यहां की भाषा-बोली सीखी थी। भाषायी भेदभाव के कई उदाहरणों में हमारे सामने एक है विश्वस्तरीय क्रिकेट खिलाड़ी कपिल देव का। क्रिकेट की दुनिया में वे पहले थे, जिन्हें अंग्रेजी नहीं आती थी। इस कारण उनको क्रिकेट का कप्तान बनाने का भी विरोध हुआ था। प्रसिद्ध पत्रकार राजदीप सरदेसाई को दिए साक्षात्कार में कपिल देव ने अपना दर्द बताते हुए कहा कि 'चयनकर्त्ताओं का कहना था कि उन्हें अंग्रेजी नहीं आती। ये इंटरनेशनल फोरम पर कैसे बोलेंगे। उनके कहने का अंदाज कुछ ऐसा था कि जैसे मेरे लिए वहां क्रिकेट खेलना जरूरी नहीं, बल्कि अंग्रेजी बोलना जरूरी है।'

प्रतिभा व कौशल न देखकर भाषा के कारण कितनी ही प्रतिभाओं को विकसित होने से पहले समाप्त कर दिया जाता है। भारत के पूर्व राष्ट्रपति अब्दुल कलाम का तो स्पष्ट तौर पर कहना था कि वे अच्छे वैज्ञानिक बन ही इसलिए पाए, कि उन्होंने अपनी मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त की, वरना् तो शिक्षा सीखने में ही सारी ऊर्जा समाप्त हो जाती।

भाषा जब शोषण का शिकार बन जाए, तो लोग उसके खिलाफ संघर्ष भी करते हैं। दुनिया में मातृभाषाओं के लिए संघर्ष हो रहे हैं, लेकिन शोषणकारी व्यवस्था उनका बेरहिमी से दमन करती है। मुखर्जी नगर दिल्ली में भारतीय भाषाओं में योग्यता प्राप्त करने वाले छात्रों को अपनी भाषा मे विकास के अवसरों के अधिकार के लिए संघर्षरत छात्रों पर जो क्रूर दमन व अत्याचार हुआ है, वह जनरल डायर की स्मृति को ताजा करता है।

शिक्षण संस्थाओं में अंग्रेजी और हिन्दी के बीच भेदभाव सतह पर ही नजर आता है। हिन्दी शिक्षण के लिए विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता है, लेकिन अंग्रेजी को समाज-विज्ञान के अध्यापक ही पढ़ा देते हैं। उच्च शिक्षा में हिन्दी विषय का वर्कलोड बहुत ही कम है अंग्रेजी आधा तथा समाज विज्ञान के दूसरे विषयों से भी आधा। भाषा के प्रति वर्तमान शासकों-प्रशासकों व नीति-निर्माता बुद्धिजीवियों का बहुत ही उदासीन रुख है और हिन्दी के प्रति तो नकारात्मक है। भाषा का पाठ्यक्रम समाज और वर्तमान की जरुरतों के अनुसार नहीं, बल्कि परीक्षा में अधिक से अधिक प्राप्त करने के अनुसार तैयार किए जा रहे हैं। परीक्षा में अधिक से अधिक अंक ही सफलता व ज्ञान की कसौटी बन गए हैं। इसका मंत्र है कम से कम पाठ्यक्रम और सुविधाजनक प्रश्न। स्कूलों में तो ऐसा माना जाता है कि हिन्दी तो कोई भी पढ़ा देगा। पी.टी.आई. आदि भी हिन्दी की कक्षाएं ले लेते हैं। कालेजों-विश्वविद्यालयों में संकीर्ण सोच काम कर रही है। केवल अपने विषय का वर्कलोड बढ़ाने की होड़ लगी है। प्रबन्धन, गृह विज्ञान, फार्मेसी व विधि

आदि कितने ही पाठ्यक्रमों में हिन्दी भाषा विषय ही नहीं है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि अपना ज्ञान व कौशल विकसित करने के पश्चात जिन लोगों को इस ज्ञान की सेवाएं देनी है उनसे किस तरह से तालमेल कर पायेंगे।

आज कल सभी यह कहते पाए जाते हैं कि एम.ए. करने के बाद भी प्रार्थना-पत्र तक लिखते वक्त उच्च-डिग्रीधारी तक के हाथ कांपने लगते हैं। अखबार वाले नव-पत्रकारों को भाषा नहीं आती का रोना रोते हैं तो पाठक अखबारों में अत्यधिक गलतियों का रोना रोते हैं। दुकानों के साईनबोर्डों, निमन्त्रण-पत्रों, विभिन्न किस्म की प्रचार सामग्री में बहुत अधिक भाषायी त्रुटियां मिलेंगी। कारण जानने की कोशिश करो तो उच्च शिक्षा से जुड़े शिक्षक स्कूली-शिक्षा में दोष निकाल कर छुट्टी पा जाते हैं। स्कूल शिक्षक छात्रों के मां-बाप, छात्रों की अरुचि व वातावरण को जिम्मेदार ठहराते हैं।

भाषा की अशुद्धता दो स्तर पर है, एक उच्चारण के स्तर पर दूसरा लेखन के स्तर पर। स्थानीय लहजे व बोलियों की विशिष्टताओं के कारण उच्चारण की विविधता और मानक दृष्टि से अशुद्धता स्वाभाविक है। लेकिन लेखन के स्तर पर तो पूरी तरह शिक्षा-प्रणाली का दोष है। जिसमें शिक्षक, पाठ्यक्रम, परीक्षा-प्रणाली तथा भाषा-नीति भी शामिल हैं। भाषा के प्रति जो थोड़ी बहुत जागरुकता है भी तो केवल उच्चारण पर। इसीलिए अंग्रेजी बोलना सिखाने वाले सैंकड़ों प्रतिष्ठान शहरों में मिल जायेंगे, लेकिन शुद्ध अंग्रेजी लिखने पर कोई ध्यान नहीं।

संविधान निर्माताओं ने हिन्दी-भाषा में बहुसांस्कृतिक, बहुधमी, बहुभाषी देश को एकता के सूत्र में पिरोये रखने की क्षमता को रेखांकित किया था। हिन्दी को उसका स्वरूप प्रदान करने का श्रेय असंख्य सुफियों-संतों-भक्तों, पीरों-फकीरों, लोक गायकों, सिद्धों, जन नायकों तथा स्वतंत्रता सेनानियों और लेखकों को है। हिन्दी हमेशा सत्ता के विरुद्ध पनपी व विकसित हुई है, अपने साथ कबीर, मीरा, निराला की परम्परा समेटे हुए है। शासन-सत्ता की भाषा और जनता की भाषा में जो अन्तर होता है, वह हिन्दी की प्रकृति में मौजूद है। अमीर खुसरो हिन्दी कहते थे कि हिन्दवी में अपने विचार अच्छी तरह व्यक्त कर सकते हैं। उन्हें अपने हिन्दी के ज्ञान पर गर्व था। वे कहते थे कि

चू मन तूति-ए-हिन्दम अर रास्त पुरसीं।
जे मन हिन्दवी पुर्स, ते नग्ज गुयम।

(मैं हिन्दुस्तान का तोता हूं। मुझसे मीठा बोलना चाहो तो मुझसे हिन्दवी में पूछो जिससे मैं भलिभांति बात कर सकूं।)

इसी ग्रन्थ में उन्होंने कहा कि ''मैं एक भारतीय तुर्क हूं और आपको हिन्दी में उत्तर दे सकता हूं मेरे अंदर मिस्री शक्कर नहीं है कि मैं अरबी में बात करूं-

तुर्क हिन्दुस्तानम मन हिंदवी गोयम जबाव,
शक्करे मिस्री नदारम कज अरब गोयम सुखन।

'नूहे सिपहर' नौ आकाश में खुसरो ने अपने भारत में बोली जाने वाली भाषाओं की शिनाख्त की और उन सबको हिन्दी से जोड़कर दिखायाः

सिंदी-ओ-लाहोरी-ओ कश्मीर-ओ गर,
धर समंदरी तिलगी ओ गुजर।
माबरी-ओ गोरी-ओ बंगाल-ओ अवध,
दिल्ली-ओ पैरामकश अंदरहमाहद,
ईं हमा हिंदवीस्त ज़ि अयाम-ए-कुहन,
आम्मा बकारस्त बहर गूना सुखन।

सिंधी, पंजाबी, कश्मीरी, मराठी, कन्नड़, तेलगु, गुजराती, तमिल, असमिया, बंगला, अवधी, दिल्ली और उसके आसपास जहां तक उसकी सीमा है, इन सबको प्राचीन काल से हिंदवी नाम से जाना जाता है।

मैथिल कोकिल कहे जाने वाले विद्यापति ने भी देसी भाषा यानी लोगों की जुबान को ही महत्त्व देते हुए कहा था कि

देसिअ बअना सब जन मिट्ठा।
ते तैसन जम्पओ अवहट्ठा।

(देसी भाषा सबको मीठी लगती है यही जानकर मैने अवहट्ठ में रचना की है।)

इन सबका यहां जिक्र करने का मतलब इतना ही है कि जिसने भी भारतीय जनता से संवाद स्थापित करना चाहा है, उसने जनभाषा को अपनाया है। बिना जनभाषा को अपनाए उससे संवाद स्थापित करने का ओर कोई जरिया अभी तक ईजाद नहीं हुआ है। लेकिन शासन सत्ताओं को जन से संवाद की बजाए एकतरफा प्रलाप करते ही अपना शासन टिकाऊ नजर आता है। शासन का यही तरीका उसे सबसे विश्वसनीय लगता है।

हिन्दी का पथ राजपथ नहीं है और इसको उस पर चलने की आदत है। यह तो देश की जनता के अनगढ़ता को वाणी देती रही है। इसी दौरान उसमें सांस्कृतिक एकता को वाणी देने में सक्षम हुई। इसी क्षमता के कारण ही स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान गैर हिन्दी भाषियों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के लिए बिल्कुल उपयुक्त पाया था। राजामोहन राय बंगाली थे, उन्होंने हिन्दी के बारे कहा था कि 'हिन्दी में अखिल भारतीय भाषा बनने की क्षमता है।' गुजराती भाषी स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कहा था कि 'हिन्दी द्वारा सारे भारत को एकसूत्र में पिरोया जा सकता है।' महात्मा गांधी भी गुजराती भाषी थे उन्होंने कहा था कि 'राष्ट्रभाषा की जगह हिन्दी ही ले सकती है, कोई दूसरी भाषा नहीं।' लोकमान्य तिलक का कहना था कि 'राष्ट्र के एकीकरण के लिए सर्वमान्य भाषा से अधिक बलशाली कोई तत्त्व नहीं। मेरे विचार में हिन्दी ही ऐसी भाषा है।' नेता जी सुभाष चन्द्र बोस ने कहा था कि 'देश के सबसे बड़े भू-भाग में बोली जाने वाली भाषा हिन्दी ही राष्ट्रभाषा पद की अधिकारिणी है।' इन महापुरुषों ने हिन्दी की महत्ता को व गौरव को सही रेखांकित किया था।

हिन्दी व भारतीय भाषाओं पर आरोप लगाया जाता है कि उसमें काम काज की क्षमता नहीं है। असल में यह अपनी अक्षमता को हिन्दी व भारतीय भाषाओं पर थोंपना है। फिर भाषाओं में क्षमता क्या अचानक आ जाती है? सोचने की बात है कि जब अंग्रेजों ने अपने शासन का कामकाज अंग्रेजी में शुरू किया तो भारत के कितने लोग अंग्रेजी में पारंगत तो छोड़ो उसका सामान्य ज्ञान भी कितने लोगों को था। लेकिन अंग्रेजी शासकों की अपनी भाषा व साम्राज्य के प्रति निष्ठा ने उसे कुछ ही सालों में राजकाज की भाषा के तौर पर स्थापित कर दिया।

हिन्दी को दोहरी मार झेलनी पड़ी है। एक तरफ तो विदेशी भाषा से दूसरी तरफ हिन्दी के अभिजन से, हिन्दी के पंडिताऊपन से। राजभाषा को निर्मित करने का जिम्मा जिन हिन्दी-प्रेमियों को मिला उन्होंने उसकी रक्षा में हत्या की। संविधान निर्माताओं ने जिस जन भाषा की जो सामासिक संस्कृति की उत्पति थी उसको त्यागकर संस्कृतनिष्ठ-कलिष्ट, शास्त्रीय-पंडिताऊ भाषा को अपनाया। जन प्रयोग के शब्दों तथा दूसरी भाषा के शब्दों विशेषकर उर्दू के शब्दों को चुन-चुनकर हिन्दी-निकाला दिया गया। सहज प्रयोग को निहायत कृत्रिम, उबाऊ बना दिया। अंग्रेजी भाषा विश्व की भाषा ऐसे नहीं बन गई, उन्होंने भाषायी संकीर्णता अपनाई होती और अपनी श्रेष्ठता के खोल में ही रहते तो उनकी राजसी भाषा इतना विकसित नहीं होती। कितने ही शब्द हैं जो हिन्दी व उसकी बोलियों से अंग्रेजी शब्दकोश का सम्माननीय हिस्सा बने हैं। इसके विपरीत हिन्दी में दूसरी ही बयार चली, जो चुन-चुनकर हिन्दी के शब्दों की पूंछ उठाकर देखते और उसे बाहर कर देते।

इसीलिए आम स्थानों पर ऐसे बेहूदे व फूहड़ शब्द देखने को मिलेंगे कि आप सिर पीट लेंगे। आपको देखने में आयेगा कि 'प्रवेश निषेध', 'शीतल जल', 'धूम्रपान वर्जित है' ये सब हो रहा है। भाषा की शुद्धता व मानकीकरण के नाम पर। मानकीकरण की आड़ में सबसे पहले हमला होता है जनभाषा पर यानी जन के अभिव्यक्ति के औजारों पर। ऐसा करने के लिए चाहे भाषाओं का घालमेल ही क्यों न करना पड़े। ऐसे प्रयोग इसी मानसिकता के उदाहरण हैं जैसे 'दुग्ध-डायरी' अब आप बताइए कि 'दूध' का 'दुग्ध' तो शुद्ध पर्यायवाची मिल गया, लेकिन डायरी कहां से प्रयोग हो रहा है।

भाषायी शुचिता का तर्क पोंगापंथ की हद तक गया, जिसके चलते हिन्दी ऐसी बनी कि अंग्रेजी से भी मुश्किल। मूल भाषा, संस्कृति व परम्परा के नाम पर अपने अभिजात्य की रक्षा करने के काम आई कठिनता। सरलता और कलिष्टता का संघर्ष भाषा के क्षेत्र में रहा है और यह मात्र भाषा विज्ञान का नियम नहीं है कि भाषा कलिष्टता से सरलता की ओर जाती है, बल्कि इसमें सामाजिक शक्तियों के संघर्ष भी दिखाई देते हैं। कबीर जब कहते हैं कि 'संसकिरत भाषा कूप जल, भाखा बहता नीर' तो वे एक अन्तर्विरोध की ओर संकेत करते हैं। 'बहते नीर' वाली भाषा ही विकसित होती है और अपनी प्रासंगिकता नहीं खोती।

भाषाओं में श्रेष्ठता के दावे नहीं चलते, जिस भाषा जो अभिव्यक्ति करता है उसके लिए वही भाषा महान होती है। दूसरी भाषाओं की कद्र करके ही हम अपनी भाषा के लिए सम्मान पा सकते हैं। भाषाओं में ऐसी संकीर्णताएं नहीं होती, ऐसी कोई भाषा नहीं जिसने दूसरी भाषाओं से शब्द न लिए हों। एक जगह से शब्द दूसरी जगह तक यात्रा करते हैं। जिस भाषा में ग्रहणशीलता को ग्रहण लग जाता है वह भाषा जल्दी ही मृत भी हो जाती है। दुनिया की कितनी ही समृद्ध भाषाएं इसीलिए आज व्यवहार से बाहर मात्र शब्दकोशों और संस्थानों में शोभा बढ़ा रही हैं कि उनकी ग्राह्य क्षमता उदार नहीं रही।

हिन्दी समाज के साथ एक समस्या रही है कि साम्प्रदायिकता व साम्प्रदायिक संकीर्णता की, जिसका प्रभाव हिन्दी भाषा पर भी पड़ा। उन्मादी हिन्दी-भाषियों का भाषायी प्रेम उर्दू-विरोध तथा अंग्रेजी के नकार में ही फला-फूला। हिन्दी प्रेम का यह मतलब दूसरी भाषाओं को न सीखना और उनमें व्याप्त ज्ञान से वंचित रहना तो कतई नहीं। भाषाओं को धर्मों से जोड़कर देखा जाएगा तो उनमें इस तरह की संकीर्णता पैदा होगी। उर्दू मुसलमानों की भाषा नहीं है, पंजाबी सिखों की भाषा नहीं है और न ही हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है। भाषा का रिश्ता धर्मों से कम और संस्कृतियों से अधिक हुआ करता है। संस्कृति से भाषा को विचार-दृष्टि मिलती है तो भाषा संस्कृति को वाणी देती है। केरल का मुसलमान उर्दू नहीं मलयालम बोलता है, तमिलनाडू का तमिल, बंगाल का बंगला, आंध्र पद्रेश का तेलगु और पंजाब का पंजाबी। इसीतरह विभिन्न प्रदेशों के हिन्दू अपने अपने प्रदेशों की भाषाएं बोलते हैं न कि हिन्दी। संस्कृति का विकास संकीर्णताओं से नहीं उदारता से होता है। जहां तक हिन्दी, उर्दू और पंजाबी या अन्य आधुनिक भारतीय भाषाएं हैं वे सब एक ही समय में पैदा हुई हैं और एक दूसरे का हाथ पकड़कर आगे बढ़ी हैं। बिल्कुल जुड़वां बहनों की तरह से एक दूसरे का सुख-दुख बांटते हुए, गमी-खुशी साझी करते हुए।

भाषाओं का चरित्र धर्मनिरपेक्ष होता है। शब्द एक भाषा व क्षेत्र से दूसरी भाषा व क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। भाषाओं का परस्पर आदान-प्रदान से ही वे फलती-फूलती हैं। महात्मा गांधी ने हिन्दी भाषा की व्याख्या करते हुए सही परिभाषित किया था ''हिन्दी भाषा वह भाषा है, जिसको उत्तर में हिंदू व मुसलमान बोलते हैं और जो नागरी अथवा अरबी लिपि में लिखी जाती है। वह हिन्दी एकदम संस्कृतमयी नहीं है न वह एकदम फारसी शब्दों से लदी हुई है। देहाती बोली में जो माधुर्य मैं देखता हूं वह न लखनऊ के मुसलमान भाइयों की बोली में है, न प्रयागजी के पंडितों की बोली में पाया जाता है''

ऐसी मिली जुली जन हिन्दी में ही पूरे देश की संपर्क

भाषा बनने की क्षमता है। नेता जी सुभाष चन्द्र बोस ने 'आजाद हिंद फौज' का गठन किया तो फौजी टुकडियों को कमांड देने के लिए हिन्दी भाषा को ही अपनाया। आजाद हिंद फौज के लिए कौमी तराना बनाया उसकी हिन्दी का स्वरूप आदर्श नमूना है।

कदम-कदम मिलाए जा, खुशी के गीत गाए जा।
ये जिंदगी है कौम की, तू कौम पर लुटाए जा।।

बहुसंख्यक भाषा भाषियों में दूसरी भाषाओं के प्रति संवेदनाशीलता का अक्सर अभाव पाया जाता है। वे यही कहते पाए जाते हैं हिन्दुस्तान की भाषा हिन्दी है और वही श्रेष्ठ भी है, और अनुकरणीय भी। लेकिन उनसे कोई पूछे कि उन्होंने दूसरी कौन सी भाषा सीखी है कि दूसरे उनकी भाषा अपनाएं और सीखें तो बतीसी निपोरने के अलावा उनके पास कुछ कहने के लिए नहीं होता। अपनी भाषा को दूसरों पर थोंपने की बजाए सभी भाषाओं का सम्मान करने की आवश्यकता है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण ढंग से रेखांकित किया कि ''आधुनिक भारत की संस्कृति एक विकसित शतदल-कमल के समान है, जिसका एक-एक दल, एक-एक प्रांत, भाषा और उसका साहित्य-संस्कृति है। किसी एक को मिटा देने से उस कमल की शोभा नष्ट हो जाएगी। हम चाहते हैं कि भारत की सब प्रांतीय बोलियां, जिनमें सुंदर साहित्य की सृष्टि हुई है, अपने-अपने घर में रानी बनकर रहें, ... और आधुनिक भाषाओं के हार की मध्य मणि हिन्दी भारत-भारती होकर विराजती रहे।''

सरकारी विभागों, बैंकों आदि में सितम्बर का महीना हिन्दी-भाषा के लिए बजट समाप्त करने का महीना बनकर रह गया है। एक कर्मकाण्ड हर साल होता है। वही अधिकारी मुख्य अतिथि के पद को सुशोभित करते हैं, जो पूरे साल हिन्दी में काम को हतोत्साहित करते हैं। हिन्दी में काम करने के संकल्प के साथ कर्मकाण्ड प्रारम्भ होता है और उसी के साथ खत्म। भाषा की महिमा का समूहगान होता है और साल भर वही ढाक के तीन पात। अगले साल फिर उन्हीं पुरानी फाइलों से धूल झाड़ ली जाती है और पुनरू काम शुरू हो जाता है। सालों से यह क्रम जारी है। भाषा सामाजिक और सामूहिक संपति है। आज जिस समय में हम रह रहे हैं वहां व्यक्तिगत विकास के लिए आपा धापी मची है। भाषा के सवालों पर सोचने के लिए किसी के पास वक्त ही नहीं है। जब व्यक्ति अपने समाज से आगे निकलने की सोचता है तो वह उसके सामूहिक विकास की चीजों की नहीं, बल्कि अपनी शान-विकास की ही सोचता है और इसमें अपना विवेक भी खो देता है। अपने भौतिक विकास के लिए अपने आत्मिक विकास को वह त्यागने के क्षण नहीं लगाता। दूसरों से आगे निकलने का आसान रास्ता ही चुनता है। वह आसानी से अपने विकास की भाषा और काम की भाषा में अन्तर कर लेता है। हिन्दी सिनेमा में काम करने वाले सुपरस्टारों के भाषा के प्रति व्यवहार से इसको समझा जा सकता है। हिन्दी अथवा अन्य क्षेत्रीय भाषा के अच्छे जानकार और उसमें नाम व धन कमाने वाले कलाकार जब अपनी कला का पुरस्कार लेते हैं तो अक्सर अंग्रेजी बोलते मिलते हैं। जब काम की भाषा और जीवन व्यवहार की भाषा अलग हो जाए तो किसी भाषा के प्रति चाहे वह अपनी मातृभाषा ही क्यों न हो हीनता के भाव आना अस्वाभाविक नहीं है।

आम जन और शासक वर्ग की भाषा का अन्तर तो हम संस्कृत के क्लासिक नाटकों में भी देख सकते हैं, जिनमें आम जीवन के चरित्रों की भाषा तथा शासकीय चरित्रों की भाषा अलग अलग है। इस तरह की भाषायी विविधता व स्तर तो समाज में हमेशा ही रहे हैं। लेकिन आज साम्राज्यवाद के दौर में भाषाओं में हीनता बोध पैदा करना तो राजनीतिक रणनीति का हिस्सा ही है। अपने व्यापार को बढ़ाने के लिए तो चाहे दुनिया की बड़ी से बड़ी कंपनी भी धुर देसी भाषा में विज्ञापन प्रसारित करती है। उसके प्रतीकों का प्रयोग करती है, लेकिन जब अपनी योजनाएं बनाती है तो उसके सोचने की भाषा कोई ओर ही होती है।

बाबू भारतेन्दु हरिश्चिन्द्र ने कहा था कि चाहे हम किसी भी भाषा में बात करें लेकिन सोचें तो अपनी भाषा में और लिखें तो अपनी भाषा में। इसी से ही भाषाओं में ज्ञान का प्रविष्ट होता है जो उस समाज तक जाता है। इसीलिए उन्होंने देश के विकास की उन्नति का मूल कहा था और सभी क्षेत्रों में उसके प्रसार की बात कही थी।

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल, बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटै न हिय को सूल।।

प्रचलित करो जहान में निज भाषा करि जत्न।
राज काज दरबार में फैलावहु यह रत्न।।

वैश्वीकरण-उदारीकरण के दौर में भाषाओं के समक्ष कई तरह की चुनौतियां हैं। भाषाएं विलुप्त हो रही हैं तो तकनीक ने भाषायी वर्चस्व को तोड़ा भी है। बहरहाल भाषा के क्षेत्र में संघर्ष व बहस जारी है।

-सुभाष चन्द्र

सभी में कुछ सहिष्णुता की भावना होनी चाहिए। हिंदीभाषी प्रांतों को एक अन्य भाषा भी सीखनी चाहिए। हमें ऐसी भावना दिखाने की जरूरत है। एक खांचे में बंधने और यह कहने से बचना चाहिए कि शेष देश को हमारी भाषा सीखनी ही होगी क्योंकि हम कुछ नहीं सीखेंगे।

-जयपाल सिंह, 14 सितंबर 1949
(संविधान सभा को संबोधित करते हुए)

आलेख

हिंदी दिवस के निहितार्थ

डॉ० दिनेश दधीचि
पूर्व प्रोफ़ेसर, अंग्रेज़ी विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

विगत शताब्दी के भारतीय महापुरुषों, मनीषियों और जननायकों में महात्मा गाँधी, सुभाष चंद्र बोस, जवाहर लाल नेहरू, लोकमान्य तिलक, चक्रवती राजगोपालाचार्य, महादेवी वर्मा, राहुल साँकृत्यायन आदि कुछ ऐसे व्यक्तित्व हैं, जो अन्य विषयों में भिन्न-भिन्न विचार रखते हैं, परंतु हिंदी भाषा के महत्त्व को ले कर सभी एकमत हैं। इनमें यदि हम उन्नीसवीं सदी के महर्षि दयानंद सरस्वती का नाम भी जोड़ लें, तो सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारी पूर्ववती पीढ़ियों के अग्रणी व्यक्तित्वों को स्पष्ट आभास था कि राष्ट्रीय एकता, संस्कृति, कला, राजनीति, व्यापार, उद्योग, प्रशासन और रोज़मर्रा के आपसी व्यवहार के लिए हिंदी को अपनाना एक अनिवार्य क़दम है। पूरे भारत को एक सूत्र में पिरो कर रखने का कार्य हिंदी के माध्यम से सरल हो सकता है। और हिंदी दीर्घ काल से यह कार्य करती आ रही है, यद्यपि हम अक्सर यह बात भूल जाते हैं।

भूलने की यह आदत हमें न होती, तो हर वर्ष 14 सितंबर के दिन प्रशासन के स्तर पर , विचार-गोष्ठियों के आयोजन से और मंचों से की गयी उद्घोषणाओं के द्वारा हमें हर किसी को याद न दिलाना पड़ता कि हिंदी का योगदान और महत्त्व क्या है। हिंदी दिवस के अनेक निहितार्थ हो सकते हैं, परंतु शीर्ष पर इसी को रखना होगा। 'दिवस' मनाने की परंपरा निस्संदेह स्वस्थ परंपरा है, परंतु यांत्रिक, औपचारिक, बनावटी या विवशतापूर्ण ढंग से किये गये कार्य का समुचित परिणाम नहीं होता। 'हिंदी दिवस' मनाने के विषय में यह प्रश्न बड़ा संगत है कि हम उसे कैसे मना रहे हैं यानी महज़ औपचारिकता पूरी करने के लिए अथवा इसे व्यवहार में अपनाने के अपने निश्चय को और सुदृढ़ करके?

यहाँ यह समझ लेना ज़रूरी है कि भारत के आम आदमी को इस भाषा से इतना अनुराग है कि इसका भविष्य हमारे उत्सवधर्मी आयोजनों पर निर्भर नहीं है। सामान्य नागरिक के अनुराग की ऊर्जा से, इसी स्नेह की ऊष्मा से हिंदी का प्रसार होगा। तो हमारा हिंदी दिवस मनाना स्वयं हमारे भविष्य के लिए हितकर होगा; हिंदी के भविष्य के लिए अपरिहार्य नहीं है। बल्कि अगर यह कहा जाए कि हिंदी दिवस पर हम हिंदी के प्रति स्वयं अपने दृष्टिकोण के दोगलेपन पर थोड़ा आत्म-चिंतन करें, मंथन करें, तो बेहतर होगा। हिंदी की उपेक्षा और आवश्यकता पड़ने पर यानी दोहन व शोषण की दृष्टि से हिंदी का प्रयोग - ये दोनों बातें सुनने में एक-दूसरे के विपरीत लगती हैं, परंतु ये एक साथ हमारे दैनिक जीवन में बार-बार हो रही हैं।

भाषा भावों को व्यक्त करने का साधन होने के साथ-साथ किसी भी देश की संस्कृति, परंपरा और समस्त ज्ञान-भंडार का विशाल कोष भी होती है। हम कितना भी प्रयास करें, जन-जीवन के विविध क्षेत्रों से अलग करके उसे 'संरक्षण' नहीं दे सकते। संरक्षण देने की यह धारणा अवैज्ञानिक लगती है, क्योंकि भाषाएँ 'संरक्षण' से नहीं, निरंतर सहज प्रयोग, साहित्य-लेखन, नवचिंतन आदि से फलती-फूलती हैं। हिंदी के विषय में जिस दोगलेपन की हम बात कर रहे हैं, कम-से-कम हिंदी दिवस पर उसकी ओर ध्यान देना आवश्यक है।

हिंदी फ़िल्मों के विषय में अक्सर कहा जाता है कि हिंदी के प्रसार में इनका बड़ा योगदान है। वस्तुतःआम आदमी के हिंदी-प्रेम का लाभ उठाने के लिए उसी की भाषा में फ़िल्मों और गीतों का निर्माण किया जाता है। यह बात इस तथ्य से साफ़ ज़ाहिर होती है कि हमारे अभिनेता व फ़िल्म-जगत् के अन्य सितारे जब केबल टी० वी० के चैनलों पर साक्षात्कार अथवा बातचीत के लिए आते हैं, तो हिंदी में नहीं, बल्कि अंग्रेज़ी में ही बात करते हैं। जिस हिंदी का इन चैनलों पर प्रयोग होता है, उसका स्वरूप भी विकृत होता है। समाचार-पत्र, रेडियो, टेलिविज़न, टेलिफ़ोन, कंप्यूटर, मोबाइल, इंटरनेट आदि सभी संचार-माध्यमों के भूमंडलीकरण की दौड़ में शामिल होने के बाद अंग्रेज़ी का वर्चस्व यूँ भी पहले की अपेक्षा बढ़ गया है। अंग्रेज़ी और हिंदी के बीच का अंतर धनाढ्य वर्ग और निर्धन वर्ग के बीच के अंतर के रूप में हमारे समाज में साफ़ दिखाई देता है। यह अकारण नहीं है कि छोटे-छोटे कस्बों और गाँवों तक में अंग्रेज़ी माध्यम की शिक्षा के नाम पर लोगों को छला जा रहा है। यह कैसी मृग-मरीचिका है कि विवाह के निमंत्रण-पत्र उन परिवारों में भी अंग्रेज़ी में ही छपते हैं, जिनमें कोई अंग्रेज़ी जानता-समझता तक नहीं? क्या इसके लिए भी हम सरकार को उत्तरदायी ठहरा कर आत्मतुष्ट हो लेंगे?

हिंदी के वेबसाइट बनाने के लिए जिस जानकारी और कौशल की ज़रूरत है, उसके लिए तो आज भारत के प्रतिभाशाली सॉफ़्टवेयर इंजीनियरों की पश्चिमी जगत में भी धाक जमी हुई है। फिर भी हिंदी के प्रयोग की बात होगी, तो पश्चिम से कोई और यहाँ आ कर सुविधा प्रदान करेगा। हममें से कोई क्यों नहीं ऐसा करता?

जो पत्रिकाएँ बड़े घरानों द्वारा हिंदी में निकाली जा रही थीं, एक-एक कर के बंद होती गयीं। वैसे भी हिंदी का स्वरूप दैनिक समाचार-पत्रों में इतना भ्रष्ट हुआ कि मानक हिंदी का सपना देखने वालों को वह आकाश-कुसुम प्रतीत होने लगा। सूचना प्रौद्योगिकी का विकास अपनी भाषा में करना हमारे लिए अब प्राथमिकता बन गया है, क्योंकि इक्कीसवीं सदी में राजनीति, व्यापार व सुरक्षा संबंधी नीतियाँ भी आर्थिक वर्चस्व के आधार पर तय होंगी और सूचना प्रौद्योगिकी आर्थिक वर्चस्व का आधार-स्तंभ होगी। इस दृष्टि से हिंदी की भूमिका और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

14 सितंबर 1949 को राजभाषा के रूप में स्वीकार किये जाने से ले कर आज तक हिंदी की विकास-यात्रा पर दृष्टिपात करें, तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रशासनिक स्तर पर अनमने ढंग से औपचारिकता पूर्वक लागू किये जाने के बावजूद आश्वस्ति के ठोस कारण हमारे सामने मौजूद हैं। प्रयोजनमूलक हिंदी के विविध क्षेत्रों में सर्वोपरि स्थान पर आसीन रहने के अनेक उदाहरण मिल जाएँगे। जन संचार के सभी माध्यमों एवं विज्ञापनों में हिंदी के प्रयोजनीय स्वरूप से व्यवसाय, व्यापार, आजीविका के नये-नये साधन और स्रोत उभर कर आये हैं। विधि, विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं पारिभाषिक शब्दावली में यद्यपि बहुत सा काम करना अभीष्ट है, फिर भी उपलब्धियाँ नगण्य नहीं कही जा सकतीं। अनुवाद के लिए उपयुक्त अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक पहुँचना अब हिंदी प्रेमियों के लिए पहले की अपेक्षा सुगम हो गया है , क्योंकि इसके लिए साधन उपलब्ध हैं। हिंदी को माध्यम के रूप में बैंकों व अन्य वाणिज्य व्यापार के प्रतिष्ठानों, शिक्षा संस्थानों, कार्यालयों आदि में स्थान दिया जाये, तो यह हमारे लिए हितकर होगा। यहाँ यह सवाल भी उठता है कि इन उद्देश्यों के लिए जिस तरह की हिंदी का प्रयोग किया जाए, वह जनसाधारण की समझ से बाहर की न हो। कामकाज के लिए कार्यालयों में इस्तेमाल होने वाली भाषा कई बार हास्यास्पद सीमा तक बनावटी होती है। कई बार सरकारी दस्तावेज़ों के हिंदी अनुवाद के लिए गूगल का सहारा ले कर बहुत हास्यास्पद स्थिति बना दी जाती है।

हिंदी दिवस का एक अन्य निहितार्थ यह भी है कि हम अपने बच्चों को भाषा के जो संस्कार दे रहे हैं, हिंदी के प्रति जिस दृष्टिकोण का बीजारोपण उनके कोमल मन की भूमि में कर रहे हैं, उसके बारे में कुछ सचेत हो जाएँ। यदि हम स्वयं हिंदी के शब्दों का उपहास करके अपनी छिछली मानसिकता का परिचय देंगे, तो आने वाली पीढ़ी अपनी राष्ट्रभाषा का सम्मान करना कैसे सीख पाएगी? उन्हें हिंदी में श्रेष्ठ बाल-साहित्य उपलब्ध नहीं होगा, तो वे न केवल अंग्रेज़ी की ओर प्रवृत्त होंगे, बल्कि अपनी संस्कृति से विच्छिन्न हो कर पश्चिम की जूठन के उपभोक्ता बन कर गर्वित होते रहेंगे। इस तरह की स्थिति मानसिकता दासता से कुछ ज्यादा भिन्न नहीं होती। एक महत्त्वपूर्ण कार्य जो हमें करना होगा, वह है श्रेष्ठ जनपक्षधर हिंदी साहित्य को कम दामों पर आम पाठकों को उपलब्ध करवाना। कुछ प्रकाशन संस्थान पहले ही इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं।

हिंदी दिवस को मनाने का एक निहितार्थ यह होगा कि हिंदी की अपार क्षमता को पहचान कर हम इसे अधिकाधिक क्षेत्रों में अपनाने का संकल्प लें। विशेष रूप से विज्ञान, तकनीक, व्यवसाय, उच्च शिक्षा, प्रौद्योगिकी जैसे क्षेत्रों में कठोर परिश्रम की ज़रूरत एक चुनौती के रूप में हमारे सामने है। इस चुनौती को पहचानने में ही हिंदी दिवस की सार्थकता निहित है।

सम्पर्क : 09354145291

अपील

- देस हरियाणा सामाजिक-सांस्कृतिक पत्रिका है। पूर्णतः अव्यवसायिक, अवैतनिक पत्रिका है, जिसे किसी तरह का अनुदान प्राप्त नहीं होता है। यह पूर्णतः पाठकों तथा पत्रिका सहयोगियों के संसाधनों से प्रकाशित होती है।
- रचनाकारों से निवेदन है कि अपनी रचनाएं भेजें। यूनिकोड, चाणक्य, कृतिदेव, शिवा मीडियम फोंट में यह सामग्री ईमेल द्वारा भेजें तो सुविधा रहेगी।
- रचनाकारों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं से विशेष अनुरोध है कि पाठकों को पत्रिका से जोड़ें। पत्रिका के लिए अपने शहर में बिक्री का स्थान चिन्हित करके सूचित करें, ताकि पत्रिका पहुंचाई जा सके।
- सदस्यता शुल्क का भुगतान केवल चैक, ड्राफ्ट अथवा ऑनलाईन से करें

Email : deshharyana@gmail.com

आलेख

भाषा नीति के बारे में अंतर्राष्ट्रीय खोज

डॉ- जोगा सिंह

प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष, भाषा विज्ञान एवं पंजाबी कोशकारी विभाग पंजाबी यूनीवर्सिटी पटियाला

भारतीय भाषाओं को वो स्थान नहीं मिला जो हर कारण से उनको मिलना चाहिए था पर पिछले वर्षों से भारतीय भाषाओं की दुगर्ति की गति और भी तीव्र हो गई है और अंग्रेजी भाषा भारतीय भाषाओं को विस्थापित किए जा रही है, विशेष तौर पर शिक्षा के माध्यम के रूप में। इसका मूल कारण तो निहित स्वार्थ हैं पर इस नीति के पक्ष में तर्क दिए जाते हैं कि अंग्रेजी ज्ञान-विज्ञान की भाषा है और ज्ञान-विज्ञान में प्रगति के लिए अंग्रेजी में पारंगत होना आवश्यक है। अंग्रेजी भाषा एक अतंर्राष्ट्रीय भाषा है और इसके बगैर अंतर्राष्ट्रीय कार-विहार संभव नहीं है। इस प्रकार के तर्क ज्ञान-विज्ञान,शिक्षा, भाषा और अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के बारे में शत-प्रतिशत अज्ञानता का सबूत हैं। इस लेख का उद्देश्य इस अज्ञानता को बेनकाब करना है।

शिक्षा और मातृ भाषा - सबसे पहले वर्तमान समय में विकास के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र ज्ञान-विज्ञान और भाषा के सम्बन्धों के विषय में अंतर्राष्ट्रीय ज्ञान और तजुर्बे पर नजर डालना उचित होगा। निम्न उक्ति संयुक्त राष्ट्र संघ के शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के संगठन (यूनेस्को) की पुस्तक 'शिक्षा में स्थानीय भाषाओं का प्रयोग' से है।

''यह स्वतःसिद्ध है कि बच्चे के लिए शिक्षा का सबसे बढ़िया माध्यम उसकी मातृ भाषा है। मनोवैज्ञानिक आधार पर यह सार्थक चिन्हों की ऐसी प्रणाली है जो प्रकटावे और समझ के लिए उसके दिमाग में स्वयंचालक रूप में काम करती है, सामाजिक आधार पर जिस जनसमूह के सदस्यों से उसका सम्बन्ध होता है उसके साथ एकात्मक होने का साधन है, शैक्षिक आधार पर वह मातृ-भाषा के माध्यम से एक अनजाने माध्यम की अपेक्षा तेज़ी से सीखता है।" (यूनेस्को, 1953:11)

यूनेस्को का यह मत बड़े विस्तृत अध्ययनों का नतीजा था। इसी तरह यूनेस्को ने 1968 में अपनी पुस्तक में दोहरायाः ''शिक्षा के लिए मातृभाषा का प्रयोग जितनी दूर तक संभव हो किया जाना चाहिए''(पृ.-691)। संयुक्त राष्ट्र की 2004 की ''विकास रिपोर्ट में ये दर्ज है कि फिलीपीन में दो भाषाई शिक्षा नीति की दो भाषाओं (टागालोग और अंग्रेजी) में पारंगत विद्यार्थी उन विद्यार्थियों को पीछे छोड़ देते थे जो घर में टागालोग में बात नहीं करते थे।" (पृ.-61)

निम्न पंक्ति तो मुख्यतः अंग्रेजी भाषी देश अमेरिका के बारे में हैः ''अमेरिका में जिन नवायो भाषाई बच्चों को प्राथमिक स्तर पर उनकी प्रथम भाषा (नवायो) और उनकी द्वितीय भाषा (अंग्रेजी) दोनों भाषाओं में पढ़ाया गया, उन बच्चों ने नवायो भाषाई उन बच्चों को पीछे छोड़ दिया जिनको केवल अंग्रेजी में पढ़ाया गया।'' (वही)

भारतीय अंग्रेजी भक्तों से निवेदन है कि ये जानने का कष्ट करें कि अमेरिका, कनेडा, न्यूज़ीलैंड और आस्ट्रेलिया जैसे मुख्यतः अंग्रेजी भाषी देशों में कितनी बड़ी गिनती में स्कूलों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी नहीं है।

आगे दी जा रही उक्तियां इस विषय पर दुनिया भर में भिन्न-भिन्न स्थानों पर हुए अध्ययनों से हैं।

इस तरह मोदिआनो (1968, 1973) की मैक्सिको में की गई खोज, **सकतनब-कांगस** की फिनलैंड में की गई खोज और उन लातीनी अमेरिकी अध्ययनों, जिनका सारांश गुदशिंसकी (1975) में दिया गया है, के नतीजे मुझे एक-सार लगते हैं। इन अध्ययनों में दिखाया गया है कि उन बच्चों का बड़ा अनुपात जो अपनी शिक्षा स्थानीय भाषा में आरंभ करता है, अपनी मातृ भाषा में साक्षरता का विकास कर लेता है और विषय और दूसरी भाषा पर उन बच्चों से बेहतर महारत हासिल कर लेता है जिनको केवल दूसरी भाषा में पढ़ाया जाता है। (Tucker, 1977:3)A (यहां दूसरी भाषा का अर्थ विदेशी भाषा है)।

निम्न उक्ति फिनलैंड से स्वीडन को प्रवास करने वाले बच्चों पर हुए अध्ययन से है। इस अध्ययन में यह पाया गया कि जिन फिनिश बच्चों की मातृ-भाषा पर महारत बेहतर थी उनकी शिक्षा में प्राप्तियां बेहतर थी, चाहे स्वीडन में शिक्षा स्वीडिश भाषा में दी जाती थी। ''निरीक्षण से यह सामने आया कि फिनिश भाषा में महारत का गणित में प्राप्त अंकों से सीधा सम्बन्ध है। स्वीडिश के मुकाबले फिनिश गणित में प्राप्ति के लिए ज्यादा महत्वपूर्ण लगती है, चाहे गणित स्वीडिश में पढ़ाया जाता है। नतीजे इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं कि गणित की संकल्पात्मक प्रक्रियाओं के लिए मातृ-भाषा का अमूर्तिकरण स्तर महत्वपूर्ण है। जीव-विज्ञान, रसायन विज्ञान और भौतिक-विज्ञान में भी संकल्पात्मक सोच की जरूरत होती है। इन विषयों में भी अपनी मातृ-भाषा पर

अच्छी महारत वाले प्रवासी बच्चे उन बच्चों से कहीं बेहतर सफलता हासिल करते हैं जिनकी मातृ-भाषा में महारत अच्छी नहीं होती।'' (Skutnabb&Kangas and Toukomaa, 1976)"(Paulston, 1977:94 में उद्धरित)

''यह धारणा भी गलत है कि अगर विद्याथी को अंग्रेजी नहीं आती है तो वह विज्ञान और गणित के विषय नहीं सीख पाएगा क्योंकि, ''विज्ञान के संकल्प किसी एक भाषा या संस्कृति से बंधे नहीं है। रूसी, जर्मन और फ्रांसीसी लोगों को अपनी उच्चतम वैज्ञानिक खोजों पर गर्व है और ये खोजें उन्होंने अंग्रेजी भाषा के बगैर की हैं। 2003 में गणित और वैज्ञानिक अध्ययनों के रूझानों में शिखर पर रहने वाले पांच देश (सिंगापुर, कोरिया गणतंत्र हांगकांग, चाईना ताएपेई और जापान) वो थे जहां अंग्रेजी प्रथम भाषा नहीं है।'' (Ricardo and Nolasco, 2009:6)

पूरी दुनिया में बार-बार यह साबित हो चुका है कि शिक्षा में जितनी सफलता मातृ-भाषा माध्यम से प्राप्त होती है उतनी सफलता विदेशी भाषा माध्यम से नहीं हो सकती। यह कहना अनुचित नहीं है कि शिक्षा की सफलता केवल मातृ-भाषा माध्यम से ही संभव है। निम्न कथन इसके कुछ कारणों को सामने लाता है।

''बच्चा अपनी बात अपनी भाषा में आसानी से कह सकता है, क्योंकि ऐसे में उसे गलतियां करने का डर नहीं होता। मातृ-भाषा आधारित शिक्षा में शिक्षार्थी सीखने की प्रक्रिया में सरगर्म हिस्सा लेते हैं क्योंकि जो उनको बताया जा रहा होता है या जो उनसे पूछा जा रहा होता है उसे वे समझ रहे होते हैं। संकल्पों के सृजन और यथार्थ के विवरण के लिए, अपने विचारों को प्रकट करने के लिए, और जो संकल्प उनके दिमाग का हिस्सा हैं उनमें नए संकल्प शामिल करने के लिए वे मातृ-भाषा का तुरंत प्रयोग कर सकते हैं। मातृ-भाषा आधारित शिक्षा शिक्षकों का शक्तिकरण भी करती है, विशेषतः जब वे स्थानीय भाषा में द्वितीय भाषा से ज्यादा पारंगत होते हैं, क्योंकि ऐसे में विद्यार्थी अपने आप को बेहतर प्रकट कर सकते हैं और शिक्षक ज्यादा ठीक ढंग से जान सकते हैं कि विद्यार्थी क्या सीख चुके हैं और कौन से क्षेत्र हैं जहां विद्यार्थी को ज्यादा सहायता की आवश्यकता है। मातृ-भाषा आधारित शिक्षा लोगों के सामूहिक ज्ञान को स्कूल प्रणाली के साथ सम्बद्ध करने के लिए आधार तैयार करती है। मातृ-भाषा आधारित शिक्षा में यह भी संभव होता है कि कोई समूह स्थानीय रचनाकारों, सांस्कृतिक समूहों और दूसरे प्रासंगिक लोगों के साथ मिलकर अर्थपूर्ण शिक्षण सामग्री तैयार कर सके। मातृ-भाषा आधारित शिक्षा माता-पिता का भी शक्तिकरण करती है क्योंकि ऐसे में वे अपने बच्चे की शिक्षा में सक्रिय भाग ले सकते हैं, क्योंकि स्कूल की भाषा और समूह की भाषा एक ही होती है।'' (Ricardo and Nolasco, 2009)

भाषाविदों और शिक्षाविदों के अनुसार यदि मातृ-भाषा में शिक्षा नहीं होती है तो बच्चा अपने कई साल नई भाषा सीखने में ही बर्बाद कर लेता है, क्योंकि ऐसे में ''शिक्षार्थी और शिक्षक का ध्यान भाषा पर ही एकाग्र होगा और विज्ञान, गणित और साक्षरता पर नहीं जाएगा।'' (Ricardo and Nolaso, 2009: 11)

ऊपर हमने देखा है कि दुनिया भर की खोज और विशेषज्ञ इस बात का पक्का प्रमाण पेश करते हैं कि शिक्षा की सफलता केवल मातृ-भाषा माध्यम से ही संभव है।

स्थानीय भाषाएं आधुनिक संकल्पों का संचार कर सकती हैं- दूसरी भाषाओं के मुकाबले यूरोपीय भाषाओं का जन्मजात सामर्थ्य एक दूसरा उपनिवेशी संकल्प है। पर विश्व की हरेक भाषा अपने वक्ताओं के विचार प्रकट करने में समर्थ है और जरूरत पढ़ने पर नई तकनीकी शब्दावली और संरचनाओं का विकास करने में समर्थ है। इस बात का सबूत एक बार लेओपोलज सेंघर ने आईनस्टाईन के सापेक्षता के सिद्धांत का सेनेगल की भाषा बोलोफ में अनुवाद करके दिया। असल फर्क यह है कि लिखत और प्रकाशन के जरिए बौद्धिकता और विकास के लिए ऐतिहासिक तौर पर एक भाषा का चुनाव किया गया है। (Alxandu, 2003)(Benson, 2005)

वाक्य संरचना के आधार पर यह बिल्कुल नहीं कहा जा सकता कि कोई भाषा ज्यादा समर्थ है और कोई कम। हर भाषा की वाक्य संरचना थोड़े बहुत अंतर के साथ एक जैसी ही है। किन्हीं दो भाषाओं का व्याकरण लेकर चंद पन्ने पढ़ने से ही यह स्पष्ट हो जाता है। जिन भाषाओं का कोई व्याकरण न लिखा गया हो उनकी भी वाक्य संरचना वैसी ही समृद्ध होती है जैसी लिखित व्याकरण वाली भाषाओं की।

अक्सर सुना जाता है कि हमारी भाषाओं के पास विज्ञान और तकनीक जैसे विषयों की शिक्षा के लिए शब्द नहीं हैं। पर यह दृष्टिकोण शत प्रतिशत अज्ञानता पर आधारित है। असल में हर भाषा का शब्द सामर्थ्य समान होता है क्योंकि हर भाषा की संपूर्ण शब्दावली कुछ मूल तत्त्वों से सृजित होती है और इन मूल तत्त्वों के प्रसंग से भाषाओं में कोई अंतर नहीं है।

यह समझना भी अतिमूढ़ता है कि यदि आपको अंग्रेजी भाषा आती है तो आपको ज्ञान-विज्ञान की शब्दावली समझ में आ जाएगी, क्योंकि अंग्रेजी भाषा में ज्ञान-विज्ञान की अधिकतर शब्दावली लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं की है न कि अंग्रेजी की।

मातृ भाषा में शिक्षा और विदेशी भाषा की पढ़ाई-तीन अंध विश्वासों का खण्डन- हमारे रास्ते में बड़ी रुकावट भाषा और शिक्षा के बारे में कुछ अंधविश्वास हैं और लोगों की आंखें खोलने के लिए इन अंध-विश्वासों का भंडा फोड़ना आवश्यक है। ऐसा ही एक अंधविश्वास यह है कि विदेशी भाषा सीखने का अच्छा तरीका यह है कि इसका शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयोग हो

(असल में और भाषा को एक विषय के रूप में पढ़ना अधिक कारगर होता है)। दूसरा अंधविश्वास यह है कि विदेशी भाषा सीखने के लिए जितना जल्दी शुरू किया जाए उतना अच्छा है (जल्दी शुरू करने से लहजा तो बेहतर हो सकता है पर लाभ की स्थिति में वह होता है जो प्रथम भाषा पर अच्छी महारत हासिल कर चुका हो)। तीसरा अंधविश्वास यह है कि मातृ-भाषा विदेशी भाषा सीखने के रास्ते में रूकावट है (मातृ-भाषा में मजबूत नींव से विदेशी भाषा बेहतर सीखी जाती है)। स्पष्ट है कि ये अंधविश्वास हैं असलियत नहीं, पर फिर भी ये नीति बनाने वालों की इस बात में अगवाई करते हैं कि प्रभुतात्मक भाषा कैसे सीखी जाए।'' (यूनेस्को, 2008 : 12) जिस अध्ययन से यह कथन लिया गया है वह सभी महाद्वीपों से लिए गए बारह देशों के अध्ययन पर आधारित है और इन देशों में भारत भी शामिल है।

ऐसा ही एक अध्ययन फिनलैंड से स्वीडन जाने वाले बच्चों पर आधारित है। इस अध्ययन में पाया गया कि ''फिनलैंड में कई साल स्कूल जाने की वजह से जितनी किसी विद्यार्थी को फिनिश ज्यादा आती थी उतनी ही बेहतर वह स्वीडिश सीखता था। एक ही माता-पिता की भाषाई महारत के निरीक्षण से पता चला कि जो बच्चे 10 साल की औसत उम्र पर फिनलैंड में आए उन्होंने फिनिश का स्तर भी बरकरार रखा और स्वीडिश भाषा में भी स्वीडिश बच्चों के बराबर का स्तर हासिल किया। जो बच्चे 6 साल से कम उम्र में स्वीडन में आए या जो स्वीडन में ही पैदा हुए, उनके नतीजे अच्छे नहीं थे। ऐसे बच्चों का स्वीडिश भाषा में विकास 12 साल की उम्र में रूक जाता है, क्योंकि स्पष्ट है कि उनकी मातृ-भाषा में नींव पक्की नहीं होती'' (Paulston, 1977:92-93)

स्पष्ट है कि विदेशी भाषा भी मातृ-भाषा के माध्यम में पढ़ने पर विदेशी भाषा में पढ़ने से बेहतर आती है। ''बुज़कम (Butzkamm) का आग्रह है कि विदेशी भाषा सीखने और सिखाने में मातृ-भाषा के स्रोत के रूप में दिए जाने वाले योगदान को पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता है। बच्चे जैसे बड़े होते हैं

1) वह यथार्थ को संकल्पित करना सीख चुके होते हैं और भाषा के प्रतीकात्मक कार्य पर उनकी पूरी पकड़ हो चुकी होती है

2) वह विचारों का आदान-प्रदान करना सीख चुके होते हैं

3) वह अपनी भाषा में बोलना और उसका प्रयोग करना सीख चुके होते हैं

4) वह व्याकरण की समझ सहज रूप से प्राप्त कर चुके होते हैं और भाषा के कई सूक्ष्म पक्षों के बारे में चेतन हो चुके होते हैं

5) वह पढ़ने और लिखने के हुनर प्राप्त कर चुके होते हैं: मातृ-भाषा इसी लिए विदेशी भाषा सीखने में सबसे बड़ी पूंजी होती है। इससे भाषा ग्रहण करने की सहायक प्रणाली प्राप्त होती है और सबसे बड़ी बात कि इससे शिक्षण संभव होता है।''

''सफल शिक्षार्थी मातृ-भाषा के ज़रिए प्राप्त भाषाई हुनर और यथार्थ ज्ञान के बड़े भण्डार को आधार बनाते हैं। मुख्यतः उनके यथार्थ को नई भाषा में फिर संकल्पित करने की आवश्यकता नहीं होती। वह प्रथम भाषा ग्रहण कर चुके होते हैं और इसके साथ ही संवाद के हुनर और व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त कर चुके होते हैं। उदाहरणार्थ, विनती, इच्छा या चेतावनी के भाव जो सामान्यतः साधारण वाक्यों के जरिए प्रकट नहीं किए जाते ये भाव साधारण वाक्य में भी छुपे हो सकते हैं। और प्रथम भाषा की राह रोशन करने की शक्ति इस तथ्य पर आधारित नहीं होती कि दोनों भाषाओं में व्याकरणिक समानता हो। यह इसलिए है कि सभी भाषाएं अधिकार, गिनती, कर्ता, साधन, निषेध, कारण, शर्त, आवश्यकता जैसे अमूर्त भावों को प्रकट करने की विधियों का विकास कर चुकी होती हैं, वे यह सब चाहे कैसे भी पूरा करती हों। एक भाषा की व्याकरण दूसरी भाषाओं की व्याकरण का दरवाजा खोलने के लिए इसलिए पर्याप्त होती है क्योंकि सभी भाषाओं का संकल्पात्मक आधार एक ही है। गहन अर्थों में हम भाषा एक ही बार सीखते हैं।'' (http://en.wikipedia.org/wiki/WolfgangButzkamm)

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय भाषाई रूझान- वर्तमान समय में विश्व में दो भाषाई रूझान स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं, एक तो अंग्रेजी भाषा का कम हो रहा वर्चस्व और दूसरा गैर-अंग्रेजी भाषाओं का हर क्षेत्र में बढ़ रहा महत्त्व। जिन गैर-अंग्रेजी भाषी देशों में भी (महान भारत और इसके पुराने भाई और वर्तमान पड़ोसी पाकिस्तान को छोड़कर) शिक्षा अंग्रेजी भाषा में दी जाती थी वहां या तो यह खत्म हो रहा है या वहां दिन-ब-दिन अंग्रेजी भाषा शिक्षा के माध्यम के रूप में कम होती जा रही है।

2000 के पास ईंटरनेट पर 80 प्रतिशत से ज्यादा जानकारी अंग्रेजी भाषा में प्राप्त होती थी। अब यह प्रतिशत 40 से भी कम है और अब ईंटरनेट पर सैंकड़ों भाषाओं में जानकारी उपलब्ध है। भारत की बात भी लें तो माईक्रोसाफ्ट कम्पनी के

अनुसार भारत का 95 प्रतिशत व्यापार गैर-अंग्रेजी भाषाओं के माध्यम से होता है और केवल 5 प्रतिशत अंग्रेजी भाषा के माध्यम से। दुनिया में अंग्रेजी की यह स्थिति बन चुकी है कि आपको केवल अंग्रेजी भाषा आती है और कोई दूसरी भाषा नहीं आती तो कोई भी कम्पनी आपको सब के बाद नौकरी देगी।

पूरे विश्व में सभी विकसित देशों के लगभग सभी स्कूलों में मातृ-भाषा के अलावा और भाषाओं की शिक्षा देने का प्रयत्न किया जा रहा है, और ये दूसरी भाषाएं केवल अंग्रेजी नहीं हैं। आस्ट्रेलिया ने 'एशियाई अध्ययन पाठ्यक्रम' प्रोग्राम में तय किया है कि हर स्कूल में एक एशियाई भाषा पढ़ना अनिवार्य होगा (Phillip Coorey, The Sydney Morning Harald, October 29, 2012)

यहां तक कि अमेरिका में चीनी भाषा माध्यम में शिक्षा देने वाले स्कूल खुल गए हैं और इनमें 90 प्रतिशत से ज्यादा विद्यार्थी गैर-चीनी भाषी हैं। पूर्व-अंग्रेजी उपनिवेशों में कैसे अंग्रेजी संचार-तंत्र से भी बाहर हो रही है इसका एक अच्छा प्रमाण अर्जनटीना के ये आंकड़े हैंः 1983 में अर्जनटीना के संचार-तंत्र (media) का 49 प्रतिशत देश के बाहर से था जो 1996 में घटकर 22 प्रतिशत ही रह गया।

अतः कोई संदेह नहीं रह जाता कि जिन क्षेत्रों में पहले अंग्रेजी का वर्चस्व था उन सभी क्षेत्रों में अंग्रेजी दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही है।

अंग्रेजी भाषा पर टेक रखने के कुछ और गम्भीर नुकसान- आज विश्व के लगभग सभी देश आवश्यकतावश दूसरे देशों की भाषाएं सीखने में लगते जा रहे हैं पर हम अंग्रेजी की समाधि से चिपके बैठे हैं। हम अंग्रेजी के अलावा किसी भी विदेशी भाषा को सीखने की ओर ध्यान नहीं दे रहे जिससे बहुत बड़ा व्यापारिक और आर्थिक नुक्सान हो रहा है। अगर हम दूसरे देशों की भाषाएं नहीं सीखेंगे तो आने वाले थोड़े ही समय में हम अलग-थलग पड़ जाएंगे। आज हमारे लिए अंग्रेजी से ज्यादा महत्त्वपूर्ण चीनी और स्पेनी जैसी भाषाएं हैं। पर हम भविष्य तो क्या वर्तमान से भी आंखें मूंदे बैठे हैं। आज दुनिया के लगभग सभी गैर-अंग्रेजी भाषी देश अपने देशों से अंग्रेजी भाषा के प्रभाव को समाप्त करने में लगे हैं। हम अपनी सारी शिक्षा,संस्कृति,संचार अंग्रेजी भाषा के हवाले किए जा रहे हैं। इससे हमें लाभ कितना हो रहा है यह दर्शाने के लिए भारत का दुनिया के व्यापार में लगातार कम हो रहा हिस्सा जाँच लेना काफी होना चाहिए।

अंग्रेजी भाषा में शिक्षा से हमें कितना फायदा हुआ है यह हमारी उच्च शिक्षा की दशा से ही स्पष्ट हो जाता है। भारत में पिछले 150 साल से उच्च शिक्षा के स्तर पर विज्ञान की शिक्षा अंग्रेजी भाषा में हो रही है। पर हमारा एक भी विश्वविद्यालय विश्व के पहले 200 विश्वविद्यालयों की गिनती में नहीं आता। जापान, चीन, कोरिया, रूस जैसे देश अपनी सारी शिक्षा अपनी भाषाओं में दे रहे हैं, फलस्वरूप उनके विश्वविद्यालयों का स्तर हमारे विश्वविद्यालयों से कहीं बेहतर है। हमारी शिक्षा के घटिया स्तर का सबसे बड़ा कारण उच्च शिक्षा का अंगेजी भाषा में होना है।

अंत में एक और तथ्य भारत-स्नेहियों के सामने लाना जरूरी है। आज के युग में किसी भी भाषा का जीवन और विकास इस बात पर निर्भर करता है कि उस भाषा का प्रयोग शिक्षा के माध्यम के रूप में हो रहा है कि नहीं। किसी भी भाषा के समाप्त होने में सबसे बड़ा कारण उस भाषा का शिक्षा में प्रयोग न होना है।

जब से भारत में स्कूलों में अंग्रेजी माध्यम का प्रचलन बढ़ा है, उसके बाद की स्थिति का अगर लेखा-जोखा किया जाए तो एक भयावह दृश्य के दर्शन होते हैं। अंग्रेजी माध्यम के प्रचलन से भाषाई अपंगों की एक पीढ़ी खड़ी हो रही है जो किसी भाषा में पारंगत नहीं है। मातृ-भाषा तो यह पीढ़ी इस लिए अच्छी तरह नहीं सीख पा रही है क्योंकि इसे अंग्रेजी माध्यम में पढ़ाया जा रहा है। इस पीढ़ी के बच्चों की अंग्रेजी का अच्छा विकास इस लिए नहीं हो सकता क्योंकि कोई भी बच्चा जो आरम्भ से ही विदेशी भाषा माध्यम से पढ़ता है उसके भाषागत सामर्थ्य का विकास ही अच्छा नहीं हो पाता। ऐसे में वह कोई भाषा भी अच्छी तरह नहीं सीख पाता।

अंग्रेजी हमारे रास्ते में और विदेशी भाषाएं सीखने में भी बड़ी रूकावट बनी हुई है, जो आज के ज़माने में व्यापार, आर्थिकता, सम्पर्क और जानकारी के लिए निहायत जरूरी है। दुनिया में अंग्रेजी के इलावा दूसरी भाषाएं सीखने का जो तुफान उमड़ा हुआ है और गैर-अंग्रेजी भाषाएं आर्थिक रूप से कितनी महत्त्वपूर्ण बन गई हैं, यह हमारे आधुनिक भारतीय महाराजा लोग देखने में असमर्थ हैं क्योंकि उनकी आँखों पर अंग्रेजी भाषा की पट्टियां बंधी हैं और कानों में अंग्रेजी सिक्के डाले हुए हैं। परिणाम, भारतीय शिक्षा, प्रशासन, ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति की बर्बादी है।

सांस्कृतिक तबाही की तो बात ही न करें तो अच्छा होगा। एक ऐसी फामी पीढ़ी तैयार हो रही है जो न अपनी भाषा, न इतिहास, न साहित्य, न धर्म, न ज्ञान-विज्ञान और न अपने लोगों से कोई गहन सम्बन्ध बना सकती है और न ही कलात्मक सृजन की किसी गहन अनुभूति से आत्मीयता बना सकती है।

हवाले -

Ammon, Ulrich. 2009. Book Review. *Medium of Instruction Policies. Which Agenda? Whose Agenda?* by J.W. Tollefson and A.B.M. Tsui (eds). Mahwah, NJ and London: Lawrence, Erlbaum, 2004.

Eckert, T. et al. 2006. Is English a 'killer language', The globalisation of a code. *ethistling*. Benson, Carol. 2005. *The Importance of Mother Tongue-based Schooling for Educational Quality, Commissioned study for EFA Global Monitoring Report. Centre for Research on Bilingualism.* Stockholm University.

Graddol, David. *2000 (1997). The Future of English? A Guide to Forecasting the Popularity of the English Language in the 21st century.* The Bitish Council.

Modiano, N. 1966. *Reading Comprehension in the National Language: A Comparative Study of Bilingual and All Spanish Approaches to Reading Instruction in Selected Indian Schools in the Highlands of Chiapas Mexico*. Ph.D. Dissertation, University of New York.

_____ . 1973. *Indian Education in the Chiapas Highlands*. New York: Holt, Rinchart, and Winston.

Paulston, C.B. 1977. Research In Bilingual Education: Current Perspectives. *Linguistics*. pp. 87-151.

RICARDO MA. DURAN NOLASCO. *2009. 21 Reasons why Filipino children learn better while using their Mother Tongue*: *A PRIMER on Mother Tongue-based Multilingual Education (MLE) & Other Issues on Language and Learning in the Philippines*. Guro Formation Forum, University of the Philippines.

Skutnabb-Kangas, T. 1975. Bilingualism, Semi-bilinguism, and Social Achievment. *Paper Presented at the 4th Internaitonal Congress of Applied Linguistics*. Stuttgart.

_____ . and P. Toukomaa. 1976. *Teaching Migrant Children's Mother-Tongue and Learning the Language of the Host Country in the Context of the Socio-cultural Situation of the Migrant Family*. Helsinki: The Finnish National Commission for UNESCO.

Spolsky, B. 1977. American Indian Bilingual Education. *Linguistics* 19:57-72.

Tucker, G.R. 1977. Bilingual Education: Current Perspectives, Vol. 2. *Linguistics*. Arlington, VA : Centre for Applied Linguistics.

UNDP Report. 2004.

Unesco. 1953. *The Use of Vernacular Languages in Education*. Monographs on Fundamental Education, No. 8. Paris.

Unesco. 1968. The Use of Vernacular Languages in Education. In Joshua A. Fishman (ed.), Readings in the Sociology of Language. The Hague: Mouton. Pp. 688-716. Originally published in 1953.

Unesco. 2008. *The Improvement in the Quality of Mother Tongue - Based Literacy and Learning*. Bankok: Unesco.

भाषायी आदर

एक भारतीय लेखक की रचनाएं पसंद आने पर भारतीय लेखक व अंग्रेजी पत्रकार का संवाद

पत्रकार : आपकी रचनाएं पढ़कर बहुत आनंद आया।
लेखक : Thank you very much
पत्रकार : आप किस प्रांत से हैं।
लेखक : I am from Bihar
पत्रकार : मैं वहां आप से मिल सकता हूं।
लेखक : of course you can
पत्रकार : आपसे एक बात पुछूं, मैंने आपसे आपकी भाषा में सवाल किए, लेकिन आपने अंग्रेजी में उत्तर दिया।
लेखक : आप ने मेरी भाषा बोल कर उसका आदर किया, मेरा भी कर्त्तव्य था कि मैं भी आपकी भाषा का आदर करूं।

बहुभाषिक संदर्भ में मातृभाषा माध्यम में शिक्षा

(यूनेस्को की रिपोर्ट के सार का अनुवाद)

अनु.-सुमित सौरभ

चाहे हम शिक्षा शास्त्री हों या नीति निर्माता, हम सभी विविध पृष्ठभूमि के विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए सर्वाधिक प्रासंगिक प्रभावकारी तथा उपयुक्त तरीके भी तलाश कर रहे हैं। खासतौर पर उनके जो वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में उपयुक्त ढंग से समाहित नहीं हो पाए हैं। आमतौर पर समस्या के लिए हाशिए के विद्यार्थियों को दोषी ठहराया जाता है कि वे पिछड़े हैं, विद्यालय की अधिकारिक भाषा में बात नहीं करते हैं। ये नहीं जानते कि किस तरह से पढ़ाई की जाए-लेकिन क्या यह व्यवस्थागत नहीं है ? यदि स्कूल में ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं होता, जिसे विद्यार्थी समझ पाएं तो क्या वास्तव में स्कूली व्यवस्था में ही समस्या का कारण मौजूद नहीं है?

कुछ लोग तर्क देते हैं कि सिर्फ शिक्षा की भाषा में परिवर्तन से ही शिक्षा व्यवस्था में व्याप्त सभी समस्याओं का समाधान नहीं हो जाएगा, जबकि शिक्षा के माध्यम में परिवर्तन से अन्य परिवर्तन भी होते हैं। इससे एक ऐसा वातावरण बनता है जिसमें विद्यार्थियों के लिए यह संभव हो पाता है कि वे अपने पूर्व ज्ञान तथा अनुभवों के बारे में बात कर पाएं तथा उन्हें नए ज्ञान/अनुभवों के साथ जोड़ पाएं। इससे घर तथा स्कूल के बीच मौजूद दूरियां कम होती हैं। इससे विद्यार्थी के परिवार तथा शिक्षकों के बीच संवाद हो पाता है। कक्षा में विद्यार्थियों की अधिक भागीदारी तथा ज्ञान का अदान-प्रदान संभव हो पाता है। विद्यार्थियों में आत्म-सम्मान तथा पहचान की प्रबल इच्छा विकसित करने में मददगार होती है। कुल मिलाकर मातृभाषा में शिक्षा से अभिगम (सीखना) तथा गुणवत्ता संबंधी मुद्दों को हल करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाए जा सकते हैं, जो सबके लिए शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगी।

जिन मुद्दों पर यहां विचार किया गया है। शोधार्थी तथा शिक्षा शास्त्री पहले से ही भलीभांति परिचित हैं तथा संभवतः कई समुदायों के लोग तथा शिक्षक भी यह बात बता सकते हैं। यहां महत्वपूर्ण है, भाषा तथा अभिगम के संबंध में प्रचलित मिथक। लोगों की आंखें खोलने के लिए इन विषयों की व्याख्या की जानी चाहिए। इनमें से एक मिथक यह है कि दूसरी किसी भाषा को सीखने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि शिक्षा के माध्यम के रूप में किया जाए।

वास्तव में एक विषय के रूप में अन्य भाषा को सीखना हमेशा ज्यादा उपयुक्त है। दूसरा मिथक यह है कि अन्य भाषा (विदेशी) सीखने के लिए इस भाषा का व्यवहार जल्द से जल्द शुरू कर देना चाहिए। (दूसरी भाषा का व्यवहार जल्द से जल्द शुरू कर देने से विद्यार्थी को बेहतरीन उच्चारण करने में तो मदद मिल सकती है, लेकिन ऐसा करने से भी वही विद्यार्थी लाभांवित होते हैं, जिन्हें मातृभाषा में महारत हासिल होती है।) तीसरा मिथक है कि मातृभाषा को हम दूसरी भाषा सीखते हुए सीख सकते हैं। मातृभाषा में महमत भाषा सीखने का आसान बना देती है। स्पष्ट है कि इन विभिन्न मिथकों में सत्य की बजाए असत्य अधिक है, लेकिन ये मिथक नीति निर्माताओं को ऐसी नीतियां बनाने के लिए निर्देशित करते हैं कि अन्य भाषा-भाषी भी वर्चस्वी या शासकीय भाषा आवश्यक तौर पर सीखें।

बहुभाषिक समाज में शिक्षा के माध्यम के संबंध में उपयुक्त निर्णय हेतु हमें मुख्य तथा सहायक भाषा के संबंध में सामान्य समझदारी विकसित करने की जरूरत है। जब ये शिक्षण तथा अभिगम के संबंध में हमारे चिंतन के साथ पूर्णतः आत्मसात हो जाते हैं, तब हम विभिन्न भाषिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा जटिल संस्थानिक समूहों की जरूरत के अनुसार विभिन्न द्विभाषिक या बहुभाषिक दृष्टिकोण का उपयोग कर सकते हैं। हमारा लक्ष्य प्रत्येक विद्यार्थी चाहे वह युवा हो या वृद्ध, गरीब हो या अमीर, स्त्री हो या पुरुष, सबकी पहुंच गुणवत्ता युक्त शिक्षा तक सुनिश्चित करना होना चाहिए, जो उनका/उनकी पहुंच गुणवत्ता युक्त जीवन तक संभव बनाएगी तथा उनके/उनकी पूर्ण क्षमताओं के उपयोग में मददगार होगी। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो आवश्यक रूप से आसानी से समझ में आने योग्य तथा उपयोगी हो तथा भाषा एवं अभिगम (सीखने) के संबंध में होने वाले इस विचार-विमर्श का आधार बने।

द्विभाषिक तथा बहुभाषिक शिक्षा का सिद्धांत-इस भाग में भाषा अभिगम तथा इनसे संबंधित मानसिक प्रक्रिया के विकास के कुछ सामान्य सिद्धांतों को अंतर्राष्ट्रीय शोध के आधार पर विश्लेषित किया गया है। ये विस्तृत साक्ष्य तथा संबंध के द्वारा निर्मित समझदारी का प्रतिनिधित्व करता है तथा सर्वाधिक उपयुक्त भाषा अभिगम तथा इनसे संबंधित मानसिक प्रक्रिया के विकास को संभव बनाने के लिए आदर्श दिशा-निर्देश मुहैया कराता है। ध्यान देने की जरूरत है कि ये स्थितियों से सामना करने की शर्तें हैं, लेकिन शिक्षक, सामग्री निर्माण, वित्तीय संसाधनों की कृत्रिम कमी तथा इसी तरह के अन्य कारणों से सभी बहुभाषिक शिक्षा कार्यक्रम इन सिद्धांतों का पूर्णतः पालन करने में सक्षम नहीं है।

यहां प्रत्येक सिद्धांत के बाद इनके संदर्भ में संक्षिप्त विवरण भी दिया है, जो बताता है कि बच्चों तथा व्यस्कों को शिक्षित करने के लिए इन सिद्धांतों को आदर्श रूप में प्रयोग किया जाए।

1. व्यस्क की तरह अपनी मातृभाषा में निपुणता हासिल करने के लिए बच्चे को जन्म से लेकर लगभग 12 वर्ष की आयु तक के समय की जरूरत है। (भाषा तथा विचार कौशल सहित) तथा यह निपुणता भविष्य में सीखने की क्षमता विकसित करने में मददगार होगी। (Dutcher 1995) इस प्रकार की निपुणता वे सभी उम्र के वक्ताओं, खासतौर पर वृद्धों, जो अधिक जानकार हैं, के साथ रोजाना के संपर्क के माध्यम से प्राप्त करेंगे तथा जो भाषा इस दौरान वो सीखेंगे, वह उनकी मातृभाषा या मुख्य भाषा (L1) होगी। इस अवधि में उपयुक्त भाषा के विकास को सुनिश्चित करने के लिए, बच्चे को आवश्यक रूप से दूसरों के साथ बातचीत करनी होगी तथा विभिन्न प्रकार की नई जानकारी तथा अनुभवों से परिचित होना होगा।

अब जब बच्चे 12 वर्ष की आयु से काफी पहले विद्यालय में दाखिल हो रहे हैं। अनुमानतः छह या सात वर्ष की आयु में प्राथमिक विद्यालय में पढ़ाई शुरू कर मातृभाषा का अध्ययन तथा इस भाषा माध्यम में कम से कम पांचवीं या छटी दर्जे तक का अध्ययन उनके लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। इससे उनके लिए अधिकारिक स्कूली भाषा (L2) सीखना आसान हो जाएगा, साथ ही उनके पाठ्यक्रम में प्रथम भाषा (L1) को महत्वपूर्ण स्थान मिल पाएगा। सबसे अधिक परिचित भाषा में अभिगम का मजबूत आधार तैयार कर लेंगे। बच्चे जैसे ही प्रथम भाषा (L1) माध्यम से सीखने की निरंतरता तथा विश्वास निर्मित कर लेंगे, वह (L2) द्वितीय भाषा को भी बोलना और समझना सीख लेंगे, तत्पश्चात इसे पढ़ना और लिखना भी सीख लेंगे। व्यस्क मातृभाषा में पहले से ही लिखने-पढ़ने तथा चिंतन की क्षमता में निपुणता प्राप्त कर चुके होते हैं। बोलना तथा लिखना सीखने में प्रथम भाषा का प्रयोग सबसे बेहतर है। यह वह भाषा है, जिसमें सबसे पहले सोच विकसित होती है। जो मजबूत भाषाई संसाधन होता है।

2. दूसरी भाषा विशेष में अकादमिक विषय पढ़ने से पहले बच्चों को उस दूसरी भाषा पर अपनी मजबूत पकड़ बनाने में सामान्यतः पांच से सात वर्ष का समय लगता है। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि नई भाषा सीखने का कोई शार्टकट तरीका नहीं होता। द्वितीय भाषा सीखने की शुरूआत सामान्य बातचीत के माध्यम से की जा सकती है, लेकिन उच्च स्तरीय अभिगम तथा चिंतन के लिए यह प्रयास पर्याप्त नहीं है। यहां तक कि प्रथम भाषा में भी अकादमिक भाषा कठिन है, क्योंकि अकादमिक भाषा अमूर्त तथा संदर्भहीन होती है। खासतौर पर तीसरे दर्जे के बाद। (Cummins 1999) द्वितीय भाषा माध्यम में अकादकमिक विषय वस्तु को पढ़ाया जाना, सीखने वाले पर, अमूर्त अवधारणा को समझने, गूढ़ शब्दों को व्याख्यायित करने तथा द्वितीय भाषा को समझने जैसे बहुस्तरीय बोझ डालना है।

चूंकि प्राथमिक विद्यालय के पांच-सात वर्षों के दौरान बच्चों को शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से दी जाती है। अतः बच्चों को द्वितीय भाषा सीखने में समय लगेगा, जिससे आदर्शतः द्वितीय भाषा को एक विषय के रूप में सीखते हैं। विद्यार्थी एक बार जब मातृभाषा में किसी अवधारणा को समझ लेता है, तो वही अवधारणा दूसरी भाषा में समझने की जरूरत नहीं होगी। वे क्या जानते हैं, इसे बताने के लिए उन्हें केवल द्वितीय भाषा के शब्दों को सीखने की जरूरत होगी। यदि द्वितीय भाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में उपयोग किया जा रहा है, जो द्वितीय भाषा अभिगम को प्रोत्साहित कर सकता है, तब वास्तविक जीवन सामग्री के रूप में द्विभाषिक तथा बहुभाषिक पाठों की जरूरत होगी। उदाहरण के लिए विद्यार्थी को प्रथम भाषा में एक नई अवधारणा से परिचित कराया जा सकता है। एक बार जब वे इस अवधारणा को समझ लेंगे, तब दूसरे पाठ के दौरान या दूसरे दिन द्वितीय भाषा में इस अवधारणा को व्यवहार में लाया जा सकता है या इसकी समीक्षा की जा सकती है, ताकि बच्चे विषय वस्तु को समझने पर ध्यान केंद्रित करें, बाद में प्रथम भाषा माध्यम से इस अवधारणा में संशोधन या विस्तार किया जा सकता है तथा इस प्रक्रिया को आगे भी दोहराया जा सकता है। यदि विद्यार्थी के लिए द्वितीय भाषा माध्यम में उच्च स्तरीय शिक्षा प्राप्त करना जरूरी हो तो आवश्यक है कि प्रत्येक विषय में द्वितीय भाषा का शब्द भंडार बनाया जाए।

व्यस्क को भी द्वितीय भाषासीखने में पांच से सात वर्ष तक का समय लग सकता है। यह इस पर निर्भर करेगा कि उसे इस भाषा में अपनी बात संप्रेषित करने का कितना अवसर मिला है। सामान्यतः प्रथम भाषा माध्यम से भी नए तथा अमूर्त अवधारणा के अध्यापन के संदर्भ में यही सिद्धांत लागू होता है। यद्यपि व्यस्कों में पहले से ही अवधारणात्मक संकल्पनात्मक विकास हो चुका होता है, जिससे वे बच्चों की तुलना में अमूर्त विचारों को आसानी से समझ सकने की स्थिति में होते हैं। बावजूद इसके उन्हें जब द्वितीय भाषामाध्यम पढ़ाया जाता है। द्वितीय भाषा की शब्दावली सीखना उनकी मुख्य चुनौती होगी, जिसकी उन्हें जरूरत है।

3. प्रथम भाषा में मजबूत महारत, द्वितीय भाषा सीखने में पहले की तुलना में अधिक मददगार साबत होगी या द्वितीय भाषा के प्रसार में अधिक प्रभावकारी होगी। यद्यपि यह प्रचलित है कि साधारणतः सभी या अधिकांश कक्षाओं में द्वितीय भाषा के प्रयोग से विद्यार्थी को दूसरी भाषा सीखने में मदद मिलती है, जबकि ऐसा जरूरी नहीं है। हालांकि यह काफी अविश्वनीय प्रतीत होता है कि हम प्रथम भाषा भाषा के अध्ययन तथा विकास पर अधिक समय लगाएं, क्योंकि एक बार में प्रथम भाषा (इस अभिगम सिद्धांत की व्याख्या Cummins (1999) द्वारा की गई है, इसे भी देखें) में महारत हो जाने पर हम केवल एक बार पढ़ते हैं तथा हमारी अधिकांश योग्यता/निपुणता/शिक्षा द्वितीय भाषा तथा अन्य भाषा में स्थानांतरित हो जाती है। इसका नतीजा इस रूप में सामने आता है कि जो बच्चे दोनों भाषाओं में अच्छी तरह पढ़-लिख तथा बोल सकते हैं। वे द्विभाषिक तथा बहुशिक्षित होंगे। बच्चों के लिए इसका मतलब है कि प्रथम भाषा पर अपनी मजबूत पकड़ का

उपयोग न केवल प्रारंभिक शिक्षा में, बल्कि सम्पूर्ण विद्यालयी जीवन में भाषा के निरंतर विकास के लिए कर सकेंगे। मातृभाषा आधारित इस शिक्षा को द्वितीय भाषा में प्रभावशाली अध्यापन के साथ जोड़ कर विद्यार्थी की क्षमता का प्रथम भाषा से द्वितीय भाषा में स्थानांतरण किया जा सकेगा।

व्यस्कों के लिए भी यही सही स्थिति है। प्रारंभिक शिक्षण के लिए उनके महमत भाषा तथा प्रथम भाषा के माध्यम से उनकी शिक्षा के विकास प्रथम भाषा तथा द्वितीय भाषा दोनों में बेहतर परिणाम होंगे। यह उन्हें द्वितीय भाषा में अच्छी तरह से संप्रेषण की योग्यता प्रदान करेगी।

4. अत्यधिक प्रभावकारी द्विभाषिक कार्यक्रम को लगातार जितना अधिक संभव हो सके, उतना अधिक प्रथम भाषा में सीखने तथा इसमें चिंतन करने पर बल देना चाहिए। इस तरह के कार्यक्रम से प्रथम भाषा, द्वितीय भाषा तथा अन्य विषय क्षेत्र में विद्यार्थी का प्रदर्शन प्राथमिक स्कूल तथा उसके बाद की शिक्षा के दौरान भी बेहतर रहता है। ऐसा उस मानवीय योग्यता के कारण संभव होता है, जिसके तहत मनुष्य एक भाषा में सीखे गए ज्ञान को दूसरी भाषा में भी व्यक्त करने में सक्षम होता है। प्रथम भाषा पढ़ना सीखने के लिए जिस प्रकार की मानसिक तथा भाषिक निपुणता की जरूरत होती है, वही द्वितीय भाषा या किसी भी दूसरी भाषा में पढ़ने के दौरान उपयोगी होता है। यहां तक कि जब इनका मूल स्वरूप भी अलग होता है या वे अलग-अलग तरीके से लिखे जाते हैं। (देखें बिलस्टोक 2006 या गेवा 2006) जिन विद्यार्थियों के पास मातृभाषा में उच्च स्तरीय निपुणता विकसित करने का अवसर है। वे अन्य भाषा में भी (लिखने तथा बोलने की) उच्च स्तरीय योग्यता हासिल करने में सक्षम होंगे। दूसरे शब्दों में वे द्विभाषिक या बहुभाषिक तथा बहुशिक्षित होंगे। साथ ही वे अन्य प्रयोग से भी लाभांवित होंगे, जैसे कि वे बहुभाषिक जागरूता से सम्पन्न होंगे तथा एक भाषा से दूसरी भाषा में ज्ञान को अनुदित कर सकेंगे।

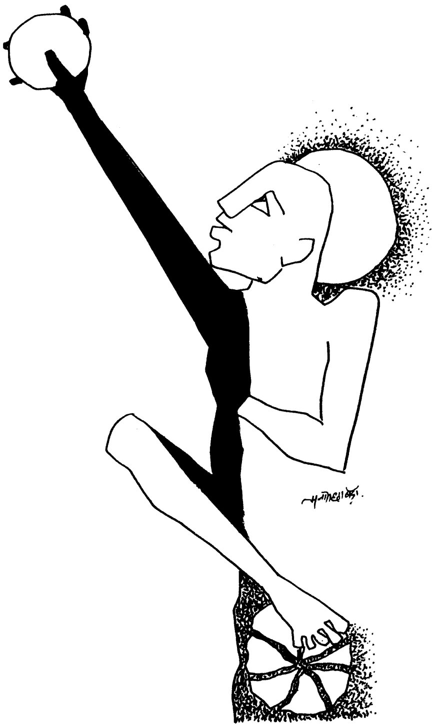

स्थानांतरण की शक्ति को अधिकतम करने के लिए बच्चों की शिक्षा का माध्यम आदर्शतः मातृभाषा हो। यदि वह शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा का उपयोग नहीं करते, तब कम से कम द्वितीय भाषा के साथ ही इसे भी एक विषय के रूप में पूरे विद्यालयी जीवन में अवश्य जारी रखना चाहिए।

व्यस्क भी समृद्ध मातृभाषा से लाभांवित होंगे। इसका मतलब है कि तथाकथित शिक्षा के बाद की अवस्था को समृद्ध करने के लिए प्रथम भाषा में अध्ययन सामग्री निर्मित करना जरूरी है। अर्थात् पढ़ने का कौशल, आदत तथा आनंद की अवस्था को निर्मित करना तथा उनको व्यवहार में लाना।

अंतिम टिप्पणी के रूप में हमें आवश्यक रूप से याद रखना चाहिए कि अलग-अलग स्थितियों में प्रथम तथा द्वितीय दोनों भाषाओं को अलग-अलग तरीके से प्रोत्साहित करने की जरूरत है।

जैसा कि कई बार प्रशिक्षित शिक्षकों के साथ चर्चा के माध्यम से साधन सम्पन्न शिक्षा कार्यक्रम में शोध द्वारा स्थापित हो चुका है कि विद्यार्थी शिक्षण कार्यक्रम से बाहर रहते हुए समाज में कार्य व्यवहारों के द्वारा द्वितीय भाषा में निपुणता प्राप्त कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में जहां विद्यार्थी अपने घरों या समुदायों में द्वितीय भाषा का व्यवहार नहीं कर रहे हैं, वहां अध्यापन-अध्ययन शुरू करने के पूर्व उनसे उम्मीद की जाती है कि मातृभाषा तथा द्वितीय भाषा दोनों सीखने पर बल दें, जो उन्हें द्वितीय भाषा में विशेष निपुणता प्रदान करेगी।

दो महत्वपूर्ण अवधारणा : स्थानांतरण तथा अवस्थातंरण - द्विभाषिक या बहुभाषिक शिक्षा में स्थानांतरण तथा अवस्थानांतरण दो विचार है, जिसे समझने की जरूरत है। अकसर इन्हें एक ही मान लिया जाता है, जबकि ऐसा नहीं है। स्थानांतरण एक वैज्ञानिक अवधारणा है, जो व्याख्यायित करता है कि हम कैसे भाषा सीखते हैं, जबकि अवस्थानांतरण एक शैक्षणिक पद है, जो हमें इस बिंदू के बारे में सूचित करता है, जहां से शिक्षा का माध्यम एक भाषा से दूसरे भाषा में बदल जाता है।

स्थानांतरण - यद्यपि यह तार्किक प्रतीत नहीं होता है कि प्रथम भाषा के विकास पर अधिक जोर देने के परिणामस्वरूप द्वितीय भाषा महारत होगी। लेकिन सच यही है क्योंकि प्रथम भाषा में महारत ही वह आधार तैयार करती है, जिस पर द्वितीय भाषा का शिक्षण आधारित है। द्विभाषिक शिक्षा के क्षेत्र में 30 वर्षों से अधिक के शोध तथा अनुभवों के द्वारा यह तथ्य स्थापित हो चुका है। हम यह भी जानते हैं कि द्वितीय भाषा से प्रथम भाषा में भी कौशल का स्थानांतरण संभव है। जैसा कि बहुत सारे लोगों में जिन्होंने द्वितीय भाषा के माध्यम से पढ़ना सीखा है, वह भी द्वितीय

भाषा के लेखन शैली से परिचित होने तक निश्चित तौर पर अपनी मातृभाषा में पढ़ सकते हैं तथापि विद्यार्थी जिस भाषा को अच्छी तरह जानता है, उसे यदि उसी भाषा में प्रारंभिक पाठ सिखाया जाए, तो यह अधिक कार्यसाधक साबित होगा।

जब दो भाषाओं की लेखन शैली अलग होती है, तब भी स्थानांतरण संभव होता है। तत्परता से पढ़ने का कौशल, पढ़ने-लिखने की रणनीति, आदत तथा मनोस्थिति, पाठ संरचना का ज्ञान तथा अलंकारिक बनावट, संवेदनात्मक कौशल, दृश्यमानता तथ बोधगम्यता के बीच समन्वयन तथा ज्ञानात्मक क्रिया तथा विचार स्वरूप प्रथम भाषा से द्वितीय भाषा में स्थानांतरित करने में भी सक्षम है। (ओबंडो एंड कोलियर 1998:128) पुनः विद्यार्थी को सामान्य भाषा में द्वितीय भाषा बोलने की जरूरत है। इतना यह समझने के लिए काफी है कि वे क्या पढ़ रहे हैं। इस स्थिति में हालांकि उन्हें एक नई लेखनशैली सीखने की जरूरत होगी, लेकिन वे पहले के शिक्षण के आधार पर ही अर्थ निर्माण के लिए खुद ब खुद शब्दों की व्याख्या करके अध्ययन की सभी प्रक्रियाओं को समझने में सक्षम होंगे।

इस तथ्य पर ध्यान देने की जरूरत है कि पढ़ना तथा लिखना रातों-रात संभव नहीं होता, इसकी एक प्रक्रिया है। यह बहुधा अलग-अलग विद्यार्थियों के साथ अलग-अलग तरीके से होता है। अचानक से उनके ध्यान में आता है कि वह प्रथम भाषा में पहले से सीखे गए ज्ञान का उपयोग करके द्वितीय भाषा में प्रचलित पाठ्य सामग्री की व्याख्या कर सकता है। द्विभाषिक होना तथा कक्षा से संबंधित पाठ्य सामग्री जो संबंधित दोनों भाषाओं में उपलब्ध है। इस खोज प्रक्रिया को पूरा होने में सहायक हो सकते हैं। जैसे ही छात्र द्वितीय भाषा में संप्रेषित करना सीख लेता है। वैसे ही वह ध्यान देना शुरू करेगा कि द्वितीय भाषा में लिखे अधिकांश महत्वपूर्ण लेखों को वह समझ सकता है तथा उनकी व्याख्या भी कर सकता है। यह स्थिति विद्यार्थियों को दोनों भाषाओं के लिखित स्वरूप के बीच व्याप्त समानता तथा विभिन्नता पर ध्यान देने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करेगा तथा इनके बीच व्याप्त विभिन्नताओं से परिचित कराएगा (जैसे कि नए शब्द तथा उनका उच्चारण) ताकि छात्र हतोत्साहित न हो।

Hovens (2002) द्वारा Niger में मातृभाषा आधारित द्विभाषिक कक्षा के छात्रों तथा सिर्फ फ्रेंच भाषा माध्यम में अध्ययन करने वाले छात्रों के ऊपर दोनों भाषाओं में दक्षता की जांच से संबंधित एक मौलिक जांच पद्धति, छात्रों की किसी भी भाषा में स्थानांतरण की उनकी क्षमता को प्रदर्शित करता है। इस प्रयोग के दौरान यह पाया गया कि प्रथम भाषा की जांच में द्विभाषिक छात्रों द्वारा अधिकतम अंक प्राप्त किए गए। प्रयोग को कई स्तर पर पूर्ण करते हुए, द्विभाषिक छात्रों की जांच पुनः द्वितीय भाषा में की गई। इसी प्रक्रिया को पुनः सिर्फ एक भाषा पर अधिकारिक दक्षता रखने वाले छात्रों पर दोहराते हुए उनकी प्रथम भाषा की जांच की गई तथा अंतिम चरण में उनकी द्वितीय भाषा की जांच की गई। प्रयोग के दौरान पाया गया कि एक ही भाषा में शिक्षित विद्यार्थी यद्यपि अपने द्वितीय भाषा ज्ञान के माध्यम से मातृभाषा की ज्ञान से संबंधित जांच को आसान बनाने में सक्षम थे, बावजूद इसके जांच के दौरान उनका प्रदर्शन प्रथम भाषा में शिक्षित छात्रों की तुलना में खराब था।

अवस्थातंरण - अवस्थातंरण युक्त द्विभाषिक कार्यक्रम में प्रथम भाषा माध्यम से पठन-पाठन की प्रक्रिया की शुरूआत होती है, लेकिन आगे के समय में द्वितीय भाषा का प्रयोग बढ़ता जाता है। अवस्थातंरण की प्रक्रिया युक्त विद्यालयी शिक्षा, द्विभाषिक शिक्षा का मजबूत स्वरूप नहीं है, क्योंकि प्रथम भाषा को सिर्फ द्वितीय भाषा के साथ जुड़ने के एक माध्यम या आसान रास्ते के बतौर इस्तेमाल किया जाता है तथा पाठ्यक्रम के लक्ष्य के रूप में शामिल करने की कोई बाध्यता नहीं होती। बहुत सारे तथाकथित अवस्थांतरण की प्रक्रिया से संबंधित कार्यक्रम विद्यालयी शिक्षा आरंभ होने के पूर्व तथा/या प्राथमिक स्तर पर अवस्थांतरण की प्रक्रिया के पहले तीन या चार साल तक प्रथम भाषा के अल्पकालिक मौखिक उपयोग के साथ चलाए जा रहे हैं या अध्ययन-अध्यापन की भाषा को प्रथम भाषा से द्वितीय भाषा में अवस्थातंरित कर रहे हैं। कुछ व्यस्क शिक्षा कार्यक्रम, विद्यार्थी को सिर्फ 6 महीने में ही प्रथम भाषा से द्वितीय भाषा में अवस्थांतरित करने की कोशिश कर रहे हैं।

स्पष्ट है कि मातृभाषा का कुछ प्रयोग बिल्कुल प्रयोग न करने की तुलना में बेहतर है। यद्यपि प्रथम भाषा सीखना विद्यार्थी के पूर्व ज्ञान पर निर्भर करता है। इस प्रकार प्रारंभिक अवस्था में ही प्रथम भाषा से दूर करना इस आधार को ही समाप्त कर देता है, जिस पर सीखने की प्रक्रिया आधारित है।

जब प्रथम भाषा की जगह द्वितीय भाषा का प्रयोग होने लगता है या प्रथम भाषा से द्वितीय भाषा में अवस्थांतरण किया जाता है, तब विद्यार्थी को आवश्यक रूप से इसके लिए तैयार होना चाहिए। यदि विद्यालय विद्यार्थियों का अवस्थांतरण बहुत जल्द करने का प्रयास करता है। तब विद्यार्थी अपना ज्ञाान दूसरी भाषा में स्थानांतरित करने लायक, प्रथम भाषा में काफी मजबूत शिक्षण कौशल विकसित नहीं कर पाए होते है। न ही वे अच्छी तरह से द्वितीय भाषा सीख पाए होते हैं, जिसमें उन्हें पढ़ने-समझने के लिए बाध्य किया जा रहा है। स्थानांतरण की प्रक्रिया ऊपर बताए गए सिद्धांत के अनुसार तब तक शुरू नहीं किया जाना चाहिए, जब तक विद्यार्थी मातृभाषा में महारत हासिल नहीं कर लेते। कोई आसान रास्ता नहीं होने के कारण सामान्यतः द्विभाषिक शिक्षा विशेषज्ञ अवस्थातंरण कार्यक्रम पर अधिक जोर नहीं देते हैं। हम जानते हैं कि विद्यार्थी के लिए सर्वोत्तम स्थिति यह है कि अपनी सम्पूर्ण अध्ययन प्रक्रिया के दौरान वह दोनों भाषाओं का उपयोग करे।

मातृभाषा आधारित कार्यक्रमों में वर्तमान मुद्दे-इस प्रकाशन में शामिल रिपोर्टों, विभिन्न राष्ट्रों द्वारा उपलब्ध कराया

गया है तथा मातृ भाषाओं (तथा बहुधा अतिरिक्त भाषाओं) में शिक्षण तथा अभिगम के प्रयोग के संदर्भ में अत्यंत उत्तेजक निष्कर्षों के संकलन का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि इन सभी लेखकों को कार्यशाला के पूर्व यूनेस्कों द्वारा भेजे गए एक ही तरह के प्रश्नों द्वारा निर्देशित किया गया था तथा समान आधारतभूत संरचना को बनाए रखने के लिए इन आलेखों में प्रस्तुत विभिन्न प्रकार की सूचनाओं को संपादित किया गया, ताकि एक ही परियोजना के कार्यान्वयन के विभिन्न चरणों के कई विवरणों से शिक्षा कार्यक्रम में जनभाषा के प्रयोग के देशव्यापी प्रयासों के संदर्भ में सामान्य समझदारी विकसित किया जा सके। उनमें से कई का पेचीदा मुद्दों से सामना हुआ, जैसे कि सीमित समर्थन के साथ शैक्षणिक भाषा नीति को प्रभावित करने का प्रयास था। बड़े पैमाने पर प्रायोगिक परियोजना को सफलतापूर्वक विस्तार देने के लिए संकल्पित होना। कुछ ने मातृभाषा आधारित पठन-पाठन का विस्तृत प्रविधिगत विवेचना की है, जबकि कई अन्य ने सहकार संबंधी समस्याओं के समाधान के लिए निरंतर सोद्देश्य के ऊपर अपना ध्यान केंद्रित किया है।

इस भाग में कुछ मुख्य विषय वस्तु की चर्चा की गई है, जिसका उल्लेख एशिया-प्रशांत महासागरीय क्षेत्र की रिपोर्टों में किया गया है, जो बाद में अफ्रीकी तथा दक्षिण अफ्रीकी संदर्भों से भी संबंधित है। ये विषय वस्तु मातृभाषा आधारित शिक्षा परियोजना (साथ ही साथ इनसे सीखे गए कुछ अनुभवों) द्वारा किए गए कुछ सामान्य उपायों को, उपयुक्त राष्ट्रों के रिपोर्टों के संदर्भ में दर्शाते हैं, ताकि पाठक जरूरत के अनुसार विशेष सूचनाओं को देख सकें।

प्रतिपूरक शिक्षा से समर्थशील शिक्षा तक-एशिया-प्रशांत महासागर क्षेत्र से प्राप्त रिपोर्टों में संबंधित राष्ट्र के कुछ सर्वाधिक हाशिए की जनता के ऊपर किए गए अध्ययनों को व्याख्यायित किया गया है। ये विभिन्न अध्ययन अत्यंत स्पष्ट समझदारी के साथ बताते हैं कि जीवन की मूलभूत जरूरतें तथा आधारभूत शिक्षण की जरूरतें, दोनों को पूरा करने का कोई भी प्रयास निश्चित तौर पर जनभाषा में होने चाहिए। अध्ययन परियोजना के निर्माताओं की स्पष्ट समझदारी थी कि मातृभाषा के प्रयोग से हाशिए की जनता की पहुंच शिक्षा के अवसरों तक हो पाएगी, जिससे अब तक इन्कार किया जाता रहा है।

कई रिपोर्टों में नस्लीय अल्पसंख्यक समूह, गरीबी तथा हाशिएकरण के बीच संबंध स्थापित किए गए हैं। कुछ रिपोर्टों में अलग तरह की अनुपूरक शिक्षा के संबंध में बताया गया है। सामान्य विचार यह है कि वर्चस्वशाली समूह की बराबरी के लिए लोगों को अवसर उपलब्ध कराया जाए। हालांकि हम यह भी कह सकते हैं कि वर्चस्वशाली समूह को हाशिए के लोगों के संबंध में सीखने के दौरान, समाज के अन्य सदस्यों के साथ की विशेष तौर पर जरूरत है। साथ ही समाज को प्रभावित करने वाले निर्णयों की प्रक्रिया में समाज के सभी लोगों को शामिल करने की जरूरत है। अल्पसंख्यक शब्द के साथ एक कठिनाई है कि इसका प्रयोग करने पर कई अन्य महत्वपूर्ण तथ्य सामने नहीं आ पाते हैं। उदाहरण के लिए चीन की रिपोर्ट में केम नस्लीय समूह का विश्लेषण करते हुए हम 2.5 मिलियन लोगों के संबंध में भी बात कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त दुनिया के अन्य भागों के मामलों से याद रखना है कि हाशियाकरण तभी संभव होता है, जब समूह को वर्चस्वशाली समाज में भागीदारी का समान अवसर नहीं दिया जाता है। चाहे वे संख्यात्मक रूप से अल्पसंख्यक हो या नहीं हो। उदाहरण के लिए, बोल्विया में, देशज भाषा बोलने वालों की संख्या वहां, स्पैनिस भाषा बोलने वालों की संख्या से अधिक है। अधिकांश अफ्रीकी राष्ट्रों में देशज समूह, जनसंख्या की शत-प्रतिशत है, बावजूद इसके अफ्रीकी भाषा बोलने वालों की संख्या औपनिवेशक (युरोपियन) भाषाओं को बोलने वालों की तुलना में कम है, जिसका अत्यंत नकारात्मक प्रभाव वहां के लोगों की साक्षरता तथा शिक्षा पर पड़ा है। समूह का आकार कोई मुद्दा नहीं है, बल्कि मुख्य मुद्दा यह है कि किस तरह लोग शिक्षा के माध्यम से सशक्त बनें, ताकि दूसरों के वर्चस्व से मुक्त हो सके। इसलिए शिक्षा सेवा के लिए यह आवश्यक है कि वह अन्य संस्कृति तथा विचार को मानने वालों पर विचार तथा जानकारी के वर्चस्वशाली तरीकों को थोपने के बजाए अवसरों का विस्तार करे। फिलिपींस की रिपोर्ट में एक उदाहरण मिलता है, जहां समुदाय के सदस्य अक्षर ज्ञान तथा प्राथमिक स्तर की शिक्षा के बाद मूल भाषा तथा द्विभाषिक शिक्षा के विस्तार में काफी मजबूती से जुटे हैं तथा मागबुश्न सीखने वालों के लिए स्पष्ट लक्ष्य निर्धारित किया है कि वे मूलभाषा में कार्यात्मक रूप से शिक्षित बन सके। अपनी संस्कृति पर गर्व कर सके तथा कार्यात्मक रूप से उत्पादक हो सके।

अनौपचारिक से औपचारिक शिक्षा तक-एशिया प्रशांत महासागर क्षेत्र की अधिकांश रिपोर्टों में औपचारिक शिक्षा के बनिस्बत अनौपचारिक शिक्षा पर जोर दिया गया है, लेकिन कुछ रिपोर्टें वास्तव में औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा के बीच व्याप्त खाई को पाटती है, जिसका मतलब है, बच्चे तथा व्यस्क, दोनों तरह के विद्यार्थी के लिए कार्य करना। (औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा के बीच एक अन्य संबंध, वैकल्पिक शिक्षा के साथ जुड़ा हुआ है, जो उन युवाओं को सहायता प्रदान करती है, जिन्हें नियमित औपचारिक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिल पाया है।) ऐसे राष्ट्रों में जहां हाल-हाल तक विद्यार्थियों के मातृभाषा पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता रहा है। अनौपचारिक शिक्षा की युक्ति के साथ शिक्षा की शुरूआत करना अत्यंत सुखद अनुभव साबित हो रहा है। अनौपचारिक शिक्षा की तरकीब आधिकारिक सरकारी नीतियों पर कम आश्रित है, लेकिन यह इसमें शामिल लोगों को यह प्रदर्शित करने का अवसर मुहैया कराती है कि मातृभाषा में शिक्षा के साथ ही साथ उपस्थिति, अभिप्रेरणा, आत्म-सम्मान तथा इसी तरह की अन्य बातों में भी सुधार ला सके। इंडोनेशिया की रिपोर्ट एक उदाहरण प्रस्तुत करती है कि

किस तरह सुडानी बोलने वाले ऐसे बच्चे तथा व्यस्कों जिनकी पहुंच अब तक औपचारिक शिक्षा तक नहीं रही, उनके बीच अनौपचारिक शिक्षा के साथ शिक्षा की शुरूआत की गई। भविष्य में इस उपाय का स्पष्ट प्रभाव, कम से कम युवाओं की औपचारिक शिक्षा पर पड़ेगा। इसी प्रकार अफगानिस्तान की रिपोर्ट उच्च समावेशन के तहत पाशाई बोलने वाले बच्चों के साथ-साथ व्यस्कों को अनौपचारिक शिक्षा से औपचारिक शिक्षा की ओर स्थानांतरण की प्रक्रिया का विश्लेषण करता है। बांग्लादेश में ASHARAI परियोजना आदिवासी बच्चों को इस उम्मीद में उनको मातृभाषा में प्राथमिक शिक्षा देने पर जोर देता है कि यह स्थिति दीर्घकालिक शिक्षा नीति को प्रभावित करेगी।

अनौपचारिक शिक्षा में काम करना, अविकसित भाषाओं के विकास में समुदाय की भागीदारी को भी प्रोत्साहित करेगा तथा एक बार जब औपचारिक शिक्षा इस दिशा में कार्य करने लगेगा, तब लेखन व्यवस्था, अक्षर तथा अन्य लिखित संसाधन के रूप में स्थानीय बौद्धिक तथा शिक्षित जनता द्वारा अपनी भाषा में भाषाई संसाधन तथा मानव संसाधन का सृजन किया जाने लगेगा। उदाहरण के लिए बोलिविया की रिपोर्ट व्याख्यायित करती है कि किस तरह की मातृभाषा का प्रयोग लोगों की वर्तनी तथा शाब्दिक विकास में भागीदार बना है। भारत में चल रही परियोजना इस रणनीति का सचेत उपयोग राभा भाषा के शिक्षण में करता है, जिसे राज्य-भाषा असमिया के विकास के लिए कई सालों तक तिरस्कृत किए जाने के बाद, वहां के समुदाय द्वारा फिर से खोजा गया है। ये तथा अन्य परियोजनाएं व्यस्क, युवा तथा बच्चों को उनकी मातृभाषा में शिक्षण द्वारा उनके बीच कई सारे अंतसंबंध निर्मित करने के लिए विचारणीय होंगे। विभिन्न पीढ़ियों के ज्ञान का पता लगाकर इनसे अध्ययन अध्यापन की सामग्री निर्मित करने तथा स्कूल तथा घर के बीच व्याप्त दूरी को कम करने में उपरोक्त ज्ञान में निहित संभावनाओं का उपयोग करने के लिए युवाओं एवं वृद्धों को प्रेरित किया जा रहा है। युगांडा की रिपोर्ट दो परियोजनाओं की व्याख्या करती है जो UPE तथा व्यस्क शिक्षा के बीच सहक्रियता के निर्माण द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था में सुधार के लक्ष्य के साथ मानव संसाधन को निर्मित करते हैं। एक परियोजना जिसे लेखक ने सतत् शिक्षा की संज्ञा दी है, वर्चस्वशाली भाषा अंग्रेजी को द्वितीय भाषा के बतौर अध्ययन हेतु शामिल करने के लिए योग्य शिक्षकों को प्रशिक्षण प्रदान करता है, जिसमें महिलाओं की बहुलता है। तत्पश्चात उन्हें सामग्री उत्पादन द्वारा सहायता प्रदान करता है। दूसरी परियोजना अभिभावकों की साक्षरता में सुधार लाने के साथ-साथ बच्चों की प्राथमिक शिक्षा के प्रारंभिक वर्षों में उनकी सहायता करने की अभिभावकों की योग्यता को घर में शैक्षणिक माहौल निर्मित करने के संदर्भ में उचित दिशा-निर्देश प्रदान करके मजबूत बनाता है।

नीति से व्यवहार तक-गैर वर्चस्वशाली भाषा अध्ययन, नस्लीय तथा सांस्कृतिक समूहों के संदर्भ में एशिया प्रशांत महासागर क्षेत्र में प्रचलित नीतियां तथा इनके क्रियान्वयन के बीच व्याप्त खाई, सबसे बड़ी चुनौती प्रतीत होती है। विविधता पूर्ण अलग-अलग समूहों को अपनी भाषा का उपयोग करने तथा अपनी संस्कृति को बढ़ावा देने के अधिकार को स्थापित करने से संबंधित बहुत से संवैधानिक अनुच्छेदों के उदाहरण साथ ही शिक्षा नीति के दस्तावेज उपलब्ध हैं, जो वास्तव में इन समूहों को सही मायने में लाभांवित कर सकते हैं। बावजूद इसके, इसी समय इन राष्ट्रों में इन संवैधानिक प्रावधानों, नीतियों को लागू करने की रणनीति का अभाव दिखता है। एक देश लाव पीडीआर है, जिसके पास नस्लीय अल्पसख्ंयक समूहों के संवैधानिक अधिकारों से संबंधित क्षेत्र में सर्वाधिक प्रगतिशील नीतियां हैं, यद्यपि उसने अभी सिर्फ इस योजना की शुरूआत भर की है कि किस प्रकार से आम लोगों की मातृभाषा का उपयोग सबको शिक्षित करने में किया जाए। वियतनाम में 1950 से ऐसी नीतियां हैं, जो मातृभाषा में शिक्षण को संभव बनाता है। इन छोटे-छोटे प्रयासों को आगे बढ़ाने की जरूरत है। अभी विभिन्न समूहों के लिए छोटे स्तर पर औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों तरह की शिक्षा में मातृभाषा उपयोग को आगे बढ़ाने वाले इन प्रयासों को उचित दिशा-निर्देश तथा सहायता की जरूरत है।

ऐसा मालूम पड़ता है कि मार्गदर्शी या प्रायोगिक परियोजनाएं, मातृभाषा आधारित कार्यक्रम को ऐसे राष्ट्रों में शुरू करने को ज्यादा उपयुक्त मान रही है, जहां मातृभाषा को अभी तक आधिकारिक नीति का हिस्सा बनाने पर विचार नहीं किया गया है। उदाहरण के लिए सुनने में आ रहा है कि भारत में राभा बुद्धिजीवी अपनी मातृभाषा में लिखने-बोलने के लिए नेताओं, शिक्षकों तथा अभिभावकों को प्रेरित कर रहे हैं तथा मातृभाषा में शिक्षा देने के कारण उनके बच्चों में शिक्षा के प्रति जो लगाव उत्पन्न हो रहा है। दूसरा उदाहरण थाईलैंड का है, जहां यह उम्मीद की जा रही है कि प्रायोगिक द्विभाषिक नियमित शिक्षा कार्यक्रम, पवो करेन तथा थाई में भी शुरू हो पाएगी, हालांकि इस दौरान प्रायोगिक तथा आधिकारिक व्यवस्था के बीच व्याप्त मतभेद जैसी कई चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा।

अन्य क्षेत्रों के उदाहरण, नीति तथा उनके कार्यान्वयन के बीच व्याप्त खाई को कम करने के लिए शुरू किए गए प्रयोगों के संदर्भ में कोई स्पष्ट संकेत नहीं देते। कैमरून ने अलग-अलग कैमरूनी भाषा में अन्वेषण तथा प्रयोग के माध्यम से शिक्षा नीति को प्रभावित करने में सफलता प्राप्त की है तथा बुरूकीनों फासो में बड़े पैमाने पर किए जाने वाले प्रयोग से सरकारी नीतियों पर सकारात्मक असर दिख रहा है। घाना की मातृभाषा में शिक्षा के संदर्भ में ढुलमुल नीति, प्रदर्शित करता है कि असंतुलित परिवर्तन किस प्रकार हो सकता है। सौभाग्यवश, घाना का उदाहरण यह भी प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार से स्थानीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्वयंसेवी संस्थाएं अच्छे कार्यों को सहायता प्रदान कर रही है, ताकि सरकार को इन कार्यक्रमों पर विचार की जरूरत महसूस हो। यह बंगलादेश में चल रही ASHRATI परियोजना की तरह ही है, जो

सरकारी नीतियों को प्रभावित करने के लिए स्पष्ट रूप से जन जागरूकता को बढ़ावा देती है तथा मातृभाषा आधारित शिक्षा को शुरू करने के लिए शिक्षा विकास कार्यक्रम मंत्रालय द्वारा दानदाताओं की मदद को स्वीकार करती है। घाना की रिपोर्ट के लेखक ने पेरू तथा मड़गास्कर के उदाहरण का प्रयोग यह दिखाने के लिए किया है कि नीति निर्माताओं का झुकाव एक बार फिर से मातृभाषा आधारित शिक्षा की तरफ हो रहा है। खासतौर पर ईएफए के लक्ष्य तक पहुंचने के संदर्भ में, जो विशेष रूप से उत्साहवर्धक है और अंत में दक्षिण अफ्रीका की रपट दक्षिण अफ्रीकी भाषाओं के शिक्षण के माध्यम से बतौर विकसित करने से संबंधित मुख्य भाषा नीति की अनुसंशाओं को लागू करने के लिए शुरू किए गए एक मौलिक द्विभाषिक विश्वविद्यालयी उपाधि कार्यक्रम का वर्जन प्रस्तुत करती है।

प्रथम भाषा से द्वितीय भाषा तक (तथा कई बार तृतीय भाषा तक)-सभी राष्ट्र, जिनका प्रतिनिधित्व इस प्रकाशन में है, उन्होंने दो या दो से अधिक भाषा में अध्ययन-अध्यापन के संबंध में अपनी रिपोर्टें दी हैं, लगभग सभी रिपोर्ट इन योजनाओं/परियोजनाओं पर विचार-विमर्श करती हैं, जिसमें अध्ययन तथा विषय वस्तु को आसान बनाने के लिए, अध्ययन के प्राथमिक अवस्था में, विद्यार्थी के मातृभाषा का प्रयोग किया गया है। बहुत लोग यह उम्मीद करते हैं कि अलग-अलग समय में विद्यार्थी को सीखने के लिए एक दूसरी भाषा तथा कई बार तीसरी भाषा या चौथी भाषा में अवस्थांतरण की जरूरत होगी, जैसे कि भारत तथा बंगलादेश की स्थिति में, जहां स्थानीय भाषा, क्षेत्रीय भाषा, राष्ट्रीय भाषा तथा अधिकारिक भाषा जैसी कई भाषाएं प्रचलन में हैं। शिक्षा प्रबंधन के लिए शिक्षा की राष्ट्रीय अकादमी संबंधी मंत्रालय का बंगलादेश से संबंधित दस्तावेज, बंगलादेश में चल रही परियोजनाओं का विश्लेषण करने की बजाए, अल्पसंख्यक भाषा बोलने वाले लोगों की चुनौतियों का विश्लेषण प्रस्तुत करती है। बंगलादेश में अल्पसंख्यक भाषा बोलने वालों को समाज में भागीदारी करने के लिए अत्यंत निपुणता के साथ राष्ट्रीय भाषा (द्वितीय भाषा बांग्ला भाषा) बोलना जरूरी है, जबकि उसी समय तृतीय भाषा के बतौर उन्हें अंग्रेजी सीखना है तथा धार्मिक उद्देश्य से एक अतिरिक्त भाषा भी सीखनी है। प्रथम भाषा में महारत किए बगैर द्वितीय भाषा तथा तृतीय भाषा पर विशेषज्ञ ध्यान देना शिक्षा कार्यक्रम के लिए खतरनाक है। अतः एनएईएम जो प्रभावकारी रूप से मातृभाषा अध्ययन पर आधारित है। ASHRAI परियोजना के संदर्भ में बांग्लादेश की रिपोर्ट में वर्णित स्थितियों से सीख ले सकता है। तनजानिया जैसे अफ्रीकी राष्ट्र जो मातृभाषा का विकास करने में असफल रहे हैं, इन्होंने भी कम से कम विद्यालयी शिक्षा के लिए मजबूत सामान्य भाषा (किसवाहिली) का प्रयोग किया है। हालांकि स्कूली शिक्षा के लिए विद्यार्थियों की मातृभाषा का उपयोग करने से विद्यार्थी अधिक लाभांवित होंगे।

हाशिएकृत जनता के लिए द्वितीय भाषा में निपुणता के महत्व पर सवाल नहीं किया जा सकता है। इन रिपोर्टों से स्पष्ट होता है कि गैर वर्चस्वशाली समूह के छात्रों की ओर से अत्यंत उच्च शैक्षणिक मांगें की जाती हैं वर्चस्वशाली समूह के लोग आसानी से अपनी मातृभाषा के साथ-साथ मुख्य धारा के विद्यालयों की शिक्षा की भाषा, दोनों में अपनी दक्षता बनाए रख सकते हैं। बावजूद इसके स्कूली शिक्षा वर्चस्वशाली समूह के छात्रों के अनुरूप निर्मित की गई हैं तथा अन्य भाषिक समूह से यह उम्मीद की जाती है कि व द्वितीय भाषा में स्कूली शिक्षा ग्रहण करने के लिए अतिरिक्त कक्षाओं के माध्यम से खुद को तैयार करें या द्वितीय भाषा सीखने के कुछ समय बाद ही प्रथम भाषा छोड़ कर द्वितीय भाषा में अवस्थानांतरित हो जाएं। उदाहरण के लिए मलेशिया की रिपोर्ट में हम देखते हैं कि बिदायु भाषा बोलने वालों के लिए औपचारिक कक्षा एक में प्रवेश के पूर्व तीन वर्ष का स्कूली कार्यक्रम चलाया जाता है, जिसका मतलब है कि बहुत कम उम्र के बच्चों को प्ले स्कूल में (प्रथम भाषा के विकास के लिए) बालवाड़ी एक में (प्रथम भाषा पढ़ने तथा लिखने की शुरूआत करने के लिए) तथा बालवाड़ी 2 में (माल्या द्वितीय भाषा तथा अंग्रेजी तृतीय भाषा की शुरूआत के लिए) शामिल होना चाहिए। थाईलैंड तथा वियतनाम ने भी प्ले स्कूल के दौरान ही मातृभाषा तथा अन्य दूसरी वर्चस्वशाली भाषा की प्रारंभिक शिक्षा देने की शुरूआत करने की अनुमति प्रदान कर दी है। औपचारिक स्कूली शिक्षा में एक में ही हम बहुत छोटे बच्चों से मुख्यधारा की शिक्षा में शामिल हो जाने की उम्मीद कर रहे हैं। इसी प्रकार इंडोनेशिया जैसे राष्ट्रों में विद्यार्थियों से काफी ज्यादा उम्मीद की जा रही है, जहां सुडानी प्रथम भाषा बोलने वालों का परिचय, कार्यक्रम के द्वितीय चरण में इंडोनेशिया द्वितीय भाषा से होता है तथा यह उम्मीद की जाती है कि कार्यक्रम का तृतीय चरण समाप्त होने तक विद्यार्थी प्रथम भाषा तथा द्वितीय भाषा दोनों में उच्च स्तरीय रूप से शिक्षित हो जाए। सौभाग्यवश मातृभाषा में शिक्षण संबंधी प्रयासों की तुलना जब हम उन कार्यक्रमों से करते हैं, जो विद्यार्थी के प्रथम भाषा का उपयोग नहीं करते हैं, तब हमें ये प्रयास काफी सफल दिखते हैं।

बहुत से राष्ट्रों ने मातृभाषा के साथ शुरू होने वाले द्विभाषिक शिक्षा परियोजना, जो बाद में द्वितीय भाषा में बदल जाते हैं। उनका कालबद्ध दृष्टिकोण के साथ सुंदर विश्लेषण किया है। उदाहरण के लिए कम्बोडिया की रिपोर्ट दो क्षेत्रों में जहां विशिष्ट संस्कृति की भाषाई अल्पसंख्यक प्रमुखता से मौजूद है, वहां क्रियान्वित होने वाली प्राथमिक तथा व्यस्क शिक्षा परियोजना का संक्षिप्त विवरण उपलब्ध कराती है। यद्यपि आरंभिक समय में ही प्रथम भाषा से द्वितीय भाषा (दर्जा तीन के आसपास) में अवस्थांतरण (ऊपर वर्णित सिद्धांतों के अनुसार) की ज्यादा संस्तुति नहीं की गई है। बावजूद इसके कम्बोडिया, थाईलैंड, घाना, बुर्किन, फासो तथा कैमरून सहित बहुत से राष्ट्रों में प्राथमिक शिक्षा के प्रति यह एक सामान्य दृष्टिकोण है। सौभाग्य से कम्बोडिया, थाईलैंड तथा कैमरून में चल रही परियोजना, प्राथमिक शिक्षा से संबंधित पाठ्यक्रम के कुछ भाग को मातृभाषा में पढ़ाने की अनुमति देती

है, जो विद्यार्थियों को प्रथम भाषा से द्वितीय भाषा में अपनी कौशल स्थानांतरित करने का अवसर मुहैया कराती है। साथ ही साथ अपनी सांस्कृतिक तथा पहचान के प्रति भी जागरूक बनाती है।

इसी प्रकार बहुत से अन्य शिक्षा कार्यक्रम, जो प्रथम भाषा के ज्ञान के आधार पर द्वितीय भाषा भाषा सिखाने के लिए बनाए गए हैं, के माध्यम से अवस्थांतरण की स्थिति में है। उदाहरण के लिए राभा शिक्षण परियोजना आधारभूत मातृभाषा की शिक्षा देती है तथा द्विभाषिक अध्ययन सामग्री मुहैया कराती है, जिसमें क्षेत्रीय असमिया शामिल है, ताकि कार्यक्रम की समाप्ति पर विद्यार्थी दोनों भाषाएं सीख ले।

सामुदायिक सदस्य से शिक्षक तक-बहुत सी परियोजनाएं जिनका यहां वर्णन किया गया है, प्रस्तावित शैक्षणिक हस्तक्षेप से अपेक्षित परिणाम के लिए, विद्यार्थियों के भाषाई अध्ययन तथा सांस्कृतिक हिस्सेदारी पर निर्भर है। उदाहरण के लिए फिलिपींस की परियोजना में स्थानीय शिक्षाशास्त्रियों, हस्तकला विशेषज्ञ तथा अन्य संबंधित व्यक्तियों की गठित की गई है, जो परियोजना की योजना, क्रियान्वयन तथा मूल्यांकन के लिए सलाह तथा जानकारी देते हैं तथा स्थानीय समाज के किसी उपयुक्त व्यक्ति को बतौर समन्वयक प्रशिक्षित करने को प्रोत्साहित करते हैं। बहुत सारी रपटें स्थानीय समुदाय के सदस्यों द्वारा स्थानीय भाषा बोलने वाले लोगों के ऊपर बतौर विद्यार्थी निवेश करने की आवश्यकता पर जोर देती है। कुछ राष्ट्र जैसे कि इंडोनेशिया, शिक्षकों, समुदाय अध्ययन केंद्र के प्रबंधकों तथा सहकारी समितियों के आयोजकों के लिए चलाए जाने वाले क्षमता निर्माण कार्यक्रम के माध्यम से ऐसा कर भी रहे हैं। अन्य राष्ट्र जैसे कि कम्बोडिया के लिए उपयुक्त शैक्षणिक पृष्ठभूमि युक्त देशज शिक्षकों को खोजना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है वे बेल्विया से सीख सकते हैं, जो मातृभाषा में शिक्षण कार्य करने वालों की कमी की स्थिति का सामना, मूल निवासी लड़कियों के लिए शैक्षणिक माध्यमिक विद्यालय द्वारा चलाए जा रहे मौलिक वैकल्पिक शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम के माध्यम से कर रहा है।

यह तथ्य याद रखना चाहिए कि लक्षित समुदाय के सदस्यों के प्रशिक्षण में किया जाने वाला खर्च, बहुत कम समय में फलदायक ही नहीं है, बल्कि यह कई पीढ़ियों के लिए भी लाभदायक है। जैसे ही विद्यार्थी मातृभाषा आधारित प्राथमिक तथा मूल शिक्षा, साथ ही साक्षरता कार्यक्रम में उपाधि प्राप्त करता है, वैसे ही उसके लिए अपनी भाषिक तथा सांस्कृतिक समुदाय में शिक्षक तथा अनुकरणीय व्यक्ति बनने के लिए द्विभाषी तथा बहुशैक्षिक कौशल का विकास करना जरूरी होगा। आने वाले वर्षों में वह दूसरों के विकास को सुविधाजनक बना सकेगा।

संदर्भ -

बेकर, सी (2006) फाउंडेशन आफ बार्ड लिगुअल एजुकेशन एंड बाईलिगुअलस्मि। फ्लेवेदो : मल्टीलिगुअल मैटसे

बियौस्टॉक, ड (2006) बाईलिगुअल इन डिवैल्पमैंट। लैंग्वेज लिटरेसी एंड कॉग्निशन। कैंब्रिज : कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस

कुम्मीनस, जे (1999) अल्सेटिव पारालिज्मस इन बाईलिगुअल एजुकेशन रिसर्च : इज थ्योरी हैव ए प्लेस? इन एजुकेशनल रिसर्च 28:7ए 26:32 एंड 41

दुतुचेर, एन (1995) द यूज आफ फर्स्ट एंड सैकिंड लैंग्वेज इन एजुकेशन। ए रिव्यू आफ इंटरनेशनल एक्सपीरियंस, पैसिफिक आईसलैंड डिस्कशन पेपर सीरिज नं. 1, वाशिंगटन डीसी : व्लर्ड बैंक

दुतुचेय एन (2004) एक्सपेंडिंग एजुकेशनल आपॉरच्युनिटी इन लिगविटिकली डाइवर्स सोसायटीज (दूसरा संस्करण) वाशिंगटन डीसी : सेंटर फार एप्लाइड लिगविस्टीकस

lhp://www.cal.org/pubs/forb/eeolds.html

गवो डे (2006) लरनिंग टू रीड इन सैकेंड लैंग्वेज : रिसर्च, इम्पलिकेशन एंड रिकोमेंडेसन्स फार सर्विस इन टमेबले, आर, बॉर, आर पीटरस (संपा)

हॉवेन्स, एम (2002), बाईलिगुअल एजुकेशनल इन वेस्ट अफ्रीका : इस इट वर्क? इन इंटरनेशनल जर्नल आफ बाईलिगुअल एजुकेशन एंड बाईलिगुअलिस्म 5:5, 249-266

ओभनडो, सी एंड कोलियर, वी (1998) बाईलिगुअल एंड ईएसएल क्लासरूम : टीचिंग इन मल्टीकल्चरल कॉन्टेक्टस (2रा संस्करण) बोस्टन : मैकग्रा हिल

रामीरेज, जे, यूएन, एस एंड रामेय, डी (1991), फाईनल रिपोर्ट : लॉगीटियूडीनल स्टडी आफ स्ट्राक्चरर्ड इंग्लिश इममरसन स्ट्रेटजी, अरली एक्सीट एंड लेट एक्सीट ट्रानजीशनल बाईलिगुअ एजुकेशन प्रोग्राम फार लैंग्वेज, माईनारिटी चिल्ड्रन, रिपोर्ट फार यूनाइटेड स्टेटस डिपार्टमेंट आफ एजुकेशन। सन माटीयो, सीए : आगुईटी इंटरनेशनल।

www.nabe.org/documents/research/ramirez.pdf.

थोमस, डब्ल्यू एंड कोलियर, वी (2002) ए नेशनल स्टडी आफ स्कूल एफेक्टीवनेस फार लैंग्वेज माईनारिटी स्टूडैंटस लॉग टर्म एकेडमिक ऐचीवमेंट। सांता क्रुज सीए : सेंटर फार रिसर्च आन एजुकेशन, डाइवरसिटी एंड एक्सीलेंस।

http://www.crede.ucse/edu/research/IIaa/1.1_final.html.

कहानी

असुंदर

-अमित मनोज

विधायक जी की चलनी बंद हो गई थी तो वे मुख्यमंत्री को पटाना चाहते थे। विधायक जी का नाम घबलू प्रसाद सिंह था और वे इस इलाके के चौथी बार राजा बने थे। दो बार विपक्ष में थे और पिछली बार सत्ता पक्ष में। घबलू जी लेकिन सत्ता पक्ष में भी मुख्यमंत्री के विरोधियों वाले गुट में थे। इसीलिये उन्हें अपनी विधायकी के पांच साल सूखे में काटने पड़े थे। एक दिन घबलू जी ने अपने साथियों को कभी भी मुख्यमंत्री नहीं बनने के आसार देखते हुए बाय-बाय कहा और सत्तासीन मुख्यमंत्री के पैर पकड़ लिए। घबलू जी को पूरी उम्मीद थी कि अब सत्ता में उन्हें भी किसी ढंग के पद को सुशोभित करने का मौका दिया जायेगा और ऐसा करना सरकार व राज्य के लिए भाग्य की बात होगी। मुख्यमंत्री लेकिन घबलू जी से उसी तरह का अछूत जैसा व्यवहार बनाए हुए थे और घबलू जी किसी भी सवर्ण की तरह मुख्यमंत्री के नजदीकी बनना चाहते थे।

पैर पकड़ने वाले दिन ही मुख्यमंत्री ने घबलू जी को पहली बार चाय ऑफर की तो घबलू जी की आँखों में टप-टप आंसू गिरने लगे थे। पूरा सीएम हॉउस आंसुओं में तैरने लगा था और जरा-सी देर और आंसू न थमते तो राजधानी का बुरा हाल हो जाता। लोग-बागों को बचने के लिए कहीं भी जगह नहीं मिलती। राज्य में इमरजेंसी लागू हो जाती और भविष्य में मुख्यमंत्री और विधायक को भारी खामियाजा भुगतना पड़ता। मुख्यमंत्री ने इन्हीं सबसे बचने के लिए घबलू जी को उनके सम्मान में एक रैली करने का आदेश दिया और उसी रैली को भविष्य के घबलू जी का आधार होने की बात कही।

घबलू जी राजधानी से उलटे पाँव लौटे और अपने चेले-चपाटियों को बता दिया कि इस बार वे किसी भी तरह का कोई रिस्क नहीं लेना चाहते। चेलों को भी कई दिन से अच्छे दिन नसीब नहीं हुए थे, इसलिए 'करो या मरो' की रणनीति पर रैली की तैयारियों में जुट गए।

घबलूगढ़ जैसे शहर के लिए यह पहला मौका था जब मुख्यमंत्री उसके यहाँ तशरीफ़ ला रहे थे।

विधायक के मुंह से रैली की खबर सुन बरसों से अलसाये चेले-चपटे चेत में आ गए थे। घबलू जी भी खाना-पीना भूल कर गांव-गांव भौंकने लगे थे। जनता अचंभित थी कि बिना बरसे ये मेंढक क्यों टर्राने लगे। सब अपने-अपने हिसाब से कयास लगा रहे थे। मौके को भुनाने के लिए कई नए चेले भी रातों-रात जन्म गए थे। घबलू जी यह सब देखकर अतिरिक्त ऊर्जा पा रहे थे और प्रस्तावित रैली की सफलता के लिए मन ही मन देवताओं का प्रसाद बोल रहे थे। उनके हाथ और अधिक जुड़ने लगे थे और गला और अधिक फाड़ने लगा था।

घबलू जी की यह दिली इच्छा थी कि वे मुख्यमंत्री की गुड बुक में आ कुछ ले मरें। एक बार मंत्री बनते ही वे अपने खानदान, रिश्तेदारों और यारों-प्यारों की सारी बोद निकाल देंगे। सात पीढ़ियों बाद भी किसी को कमाने की जरुरत नहीं पड़ेगी। क्या नहीं होगा उसके पास। ये सारी की सारी जमीनें ... होटल .... कालेज ... सब मैं खरीद लूँगा .... मैं .... घबलू प्रसाद सिंह, ...मंत्री .... इसीलिये घबलू जी इस रैली पर जोर देना चाहते थे . .. यह रैली उनके सपनों की रैली थी .... यह रैली उनकी पहचान की रैली थी .... यह रैली उनके अस्तित्व की रैली थी .... इसी रैली में वे अपना कद सबको दिखाना चाहते थे ....

पार्किंग के लिए शहर में कोई खुली जगह नहीं थी और न घबलू जी चाहते थे कि मिट्टी लगे टायरों वाले वाहन शहर में घुसकर उसे बदसूरत करें। इसलिए उन्होंने शहर के पास वाले किसानों की फसलें बीच में ही कटवा दी थी। सबको प्रलोभन दिया था कि घबलूगढ़ के विकास की सीढ़ी चढ़ते ही उनके वारे-न्यारे कर दिए जायेंगे। किसान बरसों से लुट रहे थे ... सोचा एक बार घबलू प्रसाद सिंह के लिए भी लुटकर देख लेते हैं। क्या पता कुछ मिल ही जाए। इसलिए उभाने पाँव उन्हीं के साथ हो लिए।

मुख्यमंत्री के आगमन की तारीख ज्यों-ज्यों नजदीक आ रही थी, घबलू जी के पसीने छूट रहे थे। सब कार्यकर्ता घबलू जी के एक आदेश पर इकट्ठे हो गए थे। इतने दिनों से जैसे वे इंतज़ार ही कर रहे थे। विधायक के कमजोर होने के चलते इलाके में उनकी कुछ भी नहीं चल रही थी। यह उनके लिए भी अच्छा मौका था कि वे घबलू प्रसाद की नजरों में अपने को सबसे योग्य सिद्ध कर लें। कल को घबलू जी को कुछ भी मिलता है तो उसकी जूठन इन्हीं नए घबलुओं को मिलेगी। घबलू जी के लिए भी नए घबलुओं की परीक्षा इससे बेहतर कब हो सकती थी।

घबलू जी ने गाँव-गाँव में ऐसे घबलू पैदा कर रखे हैं जो घबलू जी के एक इशारे पर अपनी जान दे दें। इलाके की जनता को जब भी घबलू जी से काम होता है, वह अपने-अपने गाँव के घबलुओं को साथ ले जाती है। ये घबलू ही उनके कामों की सिफारिश करते हैं और लौटते वक्त ले जाने वाले की खूब ऐसी-तैसी करते हैं। जो भी साथ जाता है उसके तीन-चार हजार रुपये खर्च करवा दिए जाते हैं। ऐसा एक बार नहीं, कई बार होता

है। बावजूद इसके उनका काम नहीं होता। ऐन वक्त पर गाँव के घबलू घबलू जी के कान भर देते हैं और अंजाम तक पहुंचे उनके काम को लटका दिया जाता है। घबलू जी बड़ी ईमानदारी से जनता को कहते फिरते हैं कि क्या करें, उन्होंने तो पूरे प्रयास किये थे, पर मुख्यमंत्री और उनके बेटे इस इलाके की सुनते ही कहाँ हैं। मुख्यमंत्री को सुनाना है तो हमें उनके नजदीक आना होगा, जिसके लिए ये रैली-वैली बहुत जरूरी है। अब मौका है मुख्यमंत्री को हमारी ताकत दिखाने का कि जो कुछ भी होता रहे, पर उनका हक न मरे। तब देखना इस जिले को। इस शहर को। जहाँ रेत के सिवाय कुछ नहीं उड़ता, खुशबू उड़ने लगेगी। गुड़गढ़ की तरह यहाँ भी आप सब ए.सी. बसों में उड़ते हुए चलेंगे। यूँ ... ऐसे। घबलू जी दायें हाथ से उड़ने की एक्टिंग करते तो घबलूगढ़ की जनता ऐसा महसूस करती जैसे अभी भी वह उड़ रही हो। ठीक वैसे ही ... विधायक के हाथ की तरह। कोई यह नहीं कहता कि ए.सी. बसों में उड़ा कैसे जा सकता है। बस हर कोई यह सोच कर चुप रहते कि क्या पता तब तक ए.सी. बसें उड़ने भी लग जाया करें। सब घबलू भी चाहते थे कि वे इस मौके को किसी भी तरह हाथ से न जानें दें। यही एक मौका था जो बरसों बाद आया था और जिससे वे अपनी ताकत का एहसास घबलू जी को कराना चाहते थे ताकि अगली बार घबलू जी की कोठी में उनका विशेष आदर-सम्मान हो और घबलू जी उन्हें सबसे खास मान कर अपने साथ बैठाएं, खिलाएं, पिलाएं। इसलिए गाँव-गाँव फैले हुए घबलुओं ने अपनी कमर कस ली और सोच लिया कि अब तो घबलू जी जहाँ कहेंगे वहीं मूतेंगे।

एक तो शहर था ही ऐसा, ऊपर से मौसम भी आंधी-वांधी का था। शहर धूल-वूल में अंटा ही रहता था। घबलू जी रोज रात घबलुओं के साथ अपने फार्म हाउस में मीटिंग लेते और शहर की धूल पर चर्चा करते। मुख्यमंत्री के आगमन वाले दिन तो शहर क्या उसके आजू-बाजू पांच-छह किलोमीटर तक धूल का कोई नामो-निशान नहीं होना चाहिए। घबलुओं ने अपने-अपने विचार और सामर्थ्य से समस्या का समाधान प्रस्तुत किया। घबलू जी को कुछ समाधान जचे, कुछ नहीं जचे। अंत में तय किया गया कि घबलूगढ़ की धूल को खत्म करने का एक ही रास्ता है। बारिश का। और बारिश के लिए रामजी को खुश करने की जरूरत है तो घबलू जी ने शहर के पुराने कर्मकांडियों की कई टोलियाँ बनाई और रामजी की खुशी के लिए कई अखंड यज्ञों के आयोजन का प्रबंध किया। पंडित जी जोर-जोर से मंत्र बोलते, घी और दूसरी पवित्र सामग्री आग में झोंकते कि कैसे भी हो, इन्द्र भगवान राजी होएं तो इस शहर की धूल-वूल कहीं दूर भागे। कई क्विंटलों घी शहर की धूल खत्म करने के लिए हवन में डाला गया, लेकिन उससे कोई खास फायदा नहीं हुआ। रामजी जाने कहाँ सोया था, जगा ही नहीं।

फिर हुआ यह कि लोगों ने अपने-अपने घरों के ऊपर खड़े हो भर-भर बाल्टियाँ पानी की डालीं। धूल भीग-भीग कर नीचे पड़ने लगी और सड़कें व शहर थोड़ा दिखने लगे। कसर दिखी तो दिल्ली से पांच-छह हैलिकोप्टर पानी के भरकर मंगवाए गए और घबलूगढ़ पर छिड़काव करवाया गया। छिड़काव से सड़कें तो साफ़ नहीं हुई, पर धूल जरा नीचे जम गई। और अधिक साफ़ करने के लिए घबलुओं ने सड़कों और गलियों को कई बार झाडुओं से साफ़ किया, पर कसर अब भी रही। तब घबलुओं ने एक और तरकीब निकाली कि वे थूक से सड़कें साफ़ करने लगे। घबलू खूब प्रयास से मुंह में थूक जमा करते और सड़कों-गलियों पर थूक देते। दूसरे घबलू उस थूक को सड़क पर रगड़ते और चमक आने पर अपने कूल्हे कूटते। तब वे और थूक मुंह से बाहर निकलते और अपने सफाई अभियान को पूरा करने की ओर बढ़ते। ऐसा बार-बार करने से उन्हें थूक की कमी का अनुभव हुआ तो कुछ लोग बाहर से बुलाए गए जिनके मुंह में ज्यादा से ज्यादा थूक पैदा होता था। वे लोग खूब सारा थूक अपने मुंह में पैदा करते और सड़क-गलियारों में थूक देते। घबलू इतना थूक देखकर खुश होते और पोचा मारने में जुट जाते। वे शहर को इतना साफ़ करना चाहते थे कि मुख्यमंत्री एक नजर में ही घबलू प्रसाद सिंह को मान जाएँ कि घबलू ने इस इलाके के लिए बहुत कुछ किया है।

एक और मीटिंग में एक घबलू ने खड़े होकर घबलू जी के नारे लगाए और हाथ जोड़कर कहा-'नेताजी, आपको तो मालूम ही है कि पिछले दस दिनों से हम इस शहर की एक-एक गली थूक से साफ़ कर रहे हैं। अब हमारे कंठ में जरा-सा भी थूक नहीं बचा कि हम थूक कर अभी कुछ साफ करके दिखाएं। गलियां तो चकाचक हो गई, पर एक कमी अभी भी इस शहर में दिखती है'

कमी का नाम सुनते ही सब घबलू और घबलू जी चुप हो गए। इस अदने से घबलू की इतनी हिम्मत कि वह घबलू जी के चलाये गए अभियान में कोई मीन-मेख निकाले। पर बात मुख्यमंत्री के आगमन की थी। क्या पता कौन-सी कमी सारे प्लान की ऐसी-तैसी कर दे। घबलू जी कोई रिस्क नहीं लेना चाहते थे। उन्होंने दाड़ी में हाथ फिराते कहा-'बोलो क्या कमी है?'

कोई आम घबलू होता तो अभी कांपना शुरू कर देता। घबलू जी कल के कोई लौंडे नेता नहीं हैं। उनके सामने अच्छे-अच्छों की पिंडलियाँ कांपती हैं। यह बात अलग थी कि वे ढंग के गुट में नहीं थे। इस घबलू में आत्मविश्वास कुछ ज्यादा ही भरा था। बिना कांपे बोला-'नेताजी, शहर तो साफ़ हो गया, पर यहाँ के लोग बड़े गंदे लग रहे हैं। ऐसा लगता है जैसे कई दशकों से उड़ने वाली धूल उनके चेहरों पर जम कर ही बैठ गई ... तो कोई स्पेशल फेसियल क्रीम लायी जाए और यहाँ के सब बाशिंदों के चेहरे उस क्रीम से धुलवाए जाएँ। स्पेशल सेविंग क्रीम और स्पेशल ब्लेड से इन सभी की खिचड़ी-सी सूगली दाड़ी को साफ़ करवाया जाए, ताकि मुख्यमंत्री को लगे कि इस सुन्दर शहर में कुछ भी तो असुंदर नहीं है।'

कइयों को तो समझ ही नहीं आया कि यह घबलू बोलकर क्या गया है। पर कुछ जो समझदार थे, तुरंत बात की तह में गए और एक साथ खड़े हो घबलू जी के जयकारे ला एक स्वर में कहा - 'गजब हो जायेगा नेताजी, गजब।' यह सुनते ही सारे

घबलुओं और घबलू जी कि नज़र सुझाव देने वाले घबलू की ओर पडी। घबलू कुछ न बोला और हाथ जोड़कर सबके बीच में खड़ा हो गया।

रैली में दो दिन शेष थे। घबलू जी ने सारे घबलूगढ़ में यह प्रचार करवा दिया कि सब उनके द्वारा मंगवाई गई स्पेशल क्रीम और ब्लेड से अपनी शेव करेंगे और मुख्यमंत्री के आगमन वाले दिन साफ़-सुथरे कपड़े पहनेंगे, ताकि मुख्यमंत्री को लगे कि घबलूगढ़ में कुछ भी असुंदर नहीं है और पिछली सत्ता के दौरान उनके द्वारा भेजा गया एक-एक रुपया यहाँ खर्च हुआ है।

रात के बाद लोगों ने देखा कि उनके टुच्चे से घबलूगढ़ में जगह-जगह छोटे-छोटे काउंटर खुल गए हैं और वे कोई स्पेशल क्रीम व स्पेशल ब्लेड स्पेशल डिस्काउंट पर दे रहे हैं। लोगों को सौ-डेड़ सौ के पीछे अपने नेता घबलू जी को नाराज नहीं करना था, इसलिए जगह-जगह बने अस्थायी काउंटरों से सारी क्रीमें व ब्लेडे मिनटों में उठ गईं । कंपनी घबलूगढ़ के इस उत्साह से इतनी प्रसन्न हुई कि उसने घबलू जी को पूरे पांच लाख का कमीशन तो दिया ही, घबलूगढ़ में ही एक प्लांट लगाने का वायदा भी कर दिया। घबलू जी को यह सुन बड़ी खुशी हुई। उनकी आँखें चमकीं और लगा कि अब उनके दिन बहुरने वाले हैं। अच्छे दिनों की तरह।

अभियान में जरा भी चूक न रहे, घबलू जी ने घबलुओं का एक दल बना दिया था, जिसे सारे शहर की फेस सर्वे करनी थी। किसी भी चेहरे का बिन शेव और चिकना न मिलना उन्हीं की कमी साबित होना था। इसलिए यह दल कुछ खास तरह के चश्मे लगा लोगों के फेसों की दिखाई में लग गया।

सच में शहर देखने लायक बन गया था। कइयों का मन तो शहर की सफाई-वफाई देखकर यह बन गया था कि मुख्यमंत्री के आने तक चप्पल-जूते पहनकर ही न आएं। चप्पल-जूतों से शहर तो गंदा होता ही, डर यह भी था कि कहीं विपक्ष का कोई आदमी अपनी किसी नाराजगी के चलते मुख्यमंत्री पर ही चप्पल-जूता न उछाल दे। घबलू जी के पास भी यह विचार पहुंचा तो उन्होंने सहर्ष इसे स्वीकार किया और यह आइडिया देने वाले की बुद्धि की लाख-लाख प्रशंसा की। शहर में अब सब सुन्दर ही सुन्दर था। शहर से बाहर गंदगी वाली तमाम जगहों के चारों ओर कनातें लगा दी। कबाड़ियों को भी साफ़-सुथरे कपड़ों में अपनी दुकानों में रहने को कहा गया था और बहुत-सी नयी चीजें उनकी दुकानों के लिए खरीद कर रख दी गई ताकि कबाड़ियों की दुकानों का सामान भी नया-नया नजर आये और मुख्यमंत्री को लगे कि सच में घबलूगढ़ चंडीगढ़ से कम नहीं है।

स्टेज के सामने बनी डी में भी बेहतरीन रंगोली बनाने वाले सरकारी ड्राइंग मास्टरों की ड्यूटी लगवाई गई और जब रंगोली की ज्यादा जगह होने के कारण सारे शहर की दुकानों से गुलाबी रंग मंगाया गया तो एकबारगी तो पूरा शहर ही सकते में आ गया कि अब खड़ी चंट गुलाबी रंग कहाँ से आये। यह तो भला हो रंगोली के इंचार्ज के साथ लगी सीडीपीओ मैडम जसविंदर कौर का जिसने आंगनवाड़ी की कुछ महिलाओं को गुलाबी रंग की साड़ियां पहना फूल की बड़ी-बड़ी कलियों में लेटने को राजी कर लिया। महिलाएं सीडीपीओ की भक्त थीं और मजबूर भी। सीडीपीओ के रहम पर ही उनकी कच्ची नौकरी सुरक्षित थी और तीन घंटे की ही तो बात है, मानकर जमीन में लेटना उन्हें कुछ मुश्किल भी नहीं लगा था। स्टेज से किसी भी तरह महिलाएं लेटी हुईं नहीं दिख रही थीं और यह उनकी छाती भी थी कि तीन घंटे की बात मानकर लेटने वाली वे पूरे छह घंटे तक बिना हिले-डुले और भूखी-प्यासी पड़ी रही। सीडीपीओ ने पहले ही कह दिया था कि जिस साड़ी को बांधकर वे लेटेंगी, उसे वे वापिस नहीं लेंगी। वह साड़ी उन्हीं की होगी। महिलाएं खुश थीं कि इसी बहाने उन्हें एक नयी साड़ी मुफ्त में मिल जायेगी।

सारा कुछ ठीक चल रहा था कि घबलूगढ़ शहर में एक गड़बड़ हो गई। यह गड़बड़ स्टेज का निरीक्षण कर रहे घबलू जी के चेहरे पर साफ़ अंकित हो गई। हुआ यह था कि बस स्टैंड के पास रिक्शा लगाने वाले भल्लूमल प्रजापत को दसियों दिन पहले किसी जरूरी काम से अपने गाँव जाना पड़ गया था। आज सुबह ही वह सीधा इस शहर में पहुंचा था। वह खुद भी शहर की सफाई-वफाई देख थोड़ा चकरा गया था कि यह कौन-सा शहर है जो इतना साफ-सुथरा और चकाचक नजर आ रहा है। इस शहर की धूल-वूल, कीचड़-वीचड़ आखिर गए कहाँ। वह अपनी छोटी-सी कुटड़िया से रिक्शा ले आया। सोचा कि एक-आध चक्कर लगा आराम से नहाया-धोई कर लेगा।

बस यही गलती हो गई कि बस स्टैंड वाले रास्ते के बीच में ही उसे दो साफ-सुथरी सवारियां मिल गई और आईटीआई जाने के लिए उससे भाड़ा तय कर बैठी। सुबह-सुबह चालीस रुपये की सवारियां मिलना भल्लूमल प्रजापत के लिए क्या किसी भी रिक्शाचालक के लिए बड़ी बात थी। उसने तुरंत अपने कंधे पर पड़े पुराने-से तौलिए से रिक्शा की गद्दी को साफ़ किया और सवारियों को बड़े सम्मान से बैठा आईटीआई की ओर जाने के लिए पैडल मरने लगा।

रिक्शा आधेक रस्ते में पहुंचा था कि एक घबलू ने उसे देख लिया। घबलू ने इसकी सूचना तुरंत अपने से बड़े घबलू को दी और उसने अपने से बड़े को। अंत में यह सूचना घबलू जी को मिली तो जैसे सब-कुछ ठहर गया।

घबलू जी ने किसी असुंदर आदमी के शहर में घुसने का समाचार पा तुरंत उत्तर दिया और एक से दूसरे घबलू तक पहुँचते आखिर में यह हुआ कि कुछ घबलुओं ने मिलकर भल्लूमल प्रजापत के रिक्शे को रुकवाया और उसमें बैठी सवारियों को पूरी इज्जत से यह कहते हुए जाने दिया - 'शुक्र है शेव-वेव करके सुन्दर बने हो। चुपचाप सटक लो पतली गली से...' और भल्लूमल प्रजापत . ..उसकी इतनी पिटाई हुई..इतनी पिटाई हुई...कि मुख्यमंत्री कितनी भी बार इस शहर में आए, वह आपको रिक्शा चलाता कभी नहीं मिलेगा...

कोथल कलां, महेंद्रगढ़-123028 (हरियाणा) मो. 09992885959

कहानी

फैसला

ब्रह्मदत्त शर्मा

सतीश एक बार फिर अपनी उलझन व दुविधा साथ लिए गाँव आया था।

बेटे को देखते ही पिता जी आश्चर्य-मिश्रित प्रसन्नता से खिल उठे। चार-छः महीने में कभी-कभार नजर आने वाला बेटा बीस दिन में ही तीसरी बार उनका हाल-चाल जानने जो चला आया था। उन्हें बिल्कुल भी उम्मीद न थी वह उनकी बीमारी की इतनी ज्यादा परवाह और चिंता करेगा। अपना खून आखिर अपना ही होता है!

बेटे को पास बिठाकर वे गाँव, खेत-खलिहान और सगे-संबंधियों के बारे में बड़ी प्रसन्नता और उत्साह से बातें किए चले जा रहे थे, मगर वह उन्हें ध्यान से न सुनकर अपनी बात कैसे व कहाँ से "शुरु करे इसी उधेड़बुन में उलझा था। अपने आगमन पर पिता जी का जोश और खु"शी उसके तनाव, दुविधा व ग्लानि को और भी बढ़ाए जा रहे थे।

आखिर वह कब तक बिना बात किए बार-बार यूं ही लौटता रहेगा? पिछली बार तो बीमारी की वजह से हिम्म्त ही नहीं कर पाया, पर अब तो वे बिल्कुल स्वस्थ हो चुके थे। इस बार नहीं चूकना चाहिए, वर्ना यूं ही आता-जाता रहेगा और कभी-भी पूछने का साहस नहीं कर पाएगा। अन्ततः हिम्मत करके बोला- 'पिता जी, आपसे एक जरूरी बात करनी थी, मगर डर है कहीं आप नाराज.... ?'

'अरे बाप से क्या डरना!' वे बड़ी सहजता और बेफिक्री से बोले।

पिता जी के "शब्दों ने हौसला बढ़ाया- '"शहर में मेरा एक मित्र है .... मनोज! प्रोपर्टी-डीलिंग का बिजनैस करता है। उसका कोई जानकार सेठ हमारे इलाके में एक गत्ता फैक्ट्री लगाना चाहता है, जिसके लिए उसे तीन एकड़ जमीन चाहिए। हमारी जो सड़क से लगती जमीन है----' बस इतना कहकर चुप हो गया।

पिता जी अधूरी बात को पूरी समझ गए, लेकिन जैसे विश्वास ही नहीं हुआ, बेटा जमीन बेचने की बात कर रहा था। वे गुमसुम से बैठे उसका चेहरा ताकते रहे, मानों यकीन कर लेना चाहतें हों सचमुच उसने वही कहा जो उन्होंने अभी-अभी सुना था। बेटे के आगमन की खुशी का पारा धीरे-धीरे नीचे लुढ़कने लगा। काफी देर तक सोचकर बड़ी मुश्किल से बोले-'जमीन बेच दें? . ... तुम होश में तो हो? तुम्हें मालूम है जमीन हमारे लिए क्या है, फिर भी----?'

एक बार शुरुआत हो जाने पर सतीश भी मानों काफी हद तक अपनी हिचकिचाहट और दुविधा पर काबू पा चुका था। कठोर बातों के लिए दिल कड़ा करना ही होगा- 'जानता हूं पिता जी! मगर वह दुगने से भी ज्यादा रेट दिलवा रहा है। हम नहीं बेचेंगे तो कोई और यह मौका लपक लेगा। बात समझने की कोशिश करें!'

वे सुनने को भी राजी न थे-'मुझे कुछ भी नहीं समझना! जिससे मर्जी खरीदें, हमें क्या मतलब? मगर हम अपनी जमीन क्यों बेचें? .... हैरानी है तुम अचानक जमीन बेचने पर क्यों उतारु हो गये?'

सतीश बिना किसी घुमाव-फिराव और देरी के असली मुद्दे पर आ गया- 'पिता जी, मुझे मकान के लिए पैसे चाहिए! . ... बच्चे अब बड़े हो रहे हैं, कब तक किराये के मकानों में धक्के खाता रहूं?'

पिता जी को सुनकर धक्का-सा लगा- 'तो तुम जमीन बेचकर शहर में मकान बनाना चाहते हो?'

वह खामोश बैठा रहा। प्रश्न फिर से दोहराया गया।

पुश्तैनी जमीन बेचकर मकान बनाने के ख्याल पर एक बार तो सतीश को भी शर्मिंदगी-सी महसूस हुई। अचानक अपनी ही बात जैसे अनुचित-सी प्रतीत लगने लगी, मगर इस ख्याल को तुरंत बाहर खदेड़ दिया। वह कमजोर पड़कर इस अवसर को गंवाना नहीं चाहता थाय इसलिए दृढ़ता से बोला- 'इसके अतिरिक्त मुझे कोई और दूसरा रास्ता नजर ही नहीं आता। अपनी तनख्वाह से तो हम जिंदगी-भर भी मकान नहीं बना पाएंगे! .... सिर्फ लोन के रूपयों से ही मकान नहीं बन सकता, अपने पास भी तो कुछ जमा होना चाहिए। अच्छी जगह प्लॉट खरीदने में ही .... ' कहते-कहते अचानक बीच में ही चुप हो गया। शहर में मकान बनाने की इन बारीकियों और व्यहवारिक दिक्कतों को वे कभी भी नहीं समझ पाएंगे।

पिता जी को सुनकर आश्चर्य हुआ- 'ताज्जुब है इतने पैसों में भी तुम्हारा गुजारा नहीं होता। फिर बहु से भी तुम नौकरी करवा रहे हो। औरतों की कमाई.... ' वे बेटे की नराजगी के डर से कुछ और कहते-कहते रुक गए।

सतीश को मालूम था बहुत-से अन्य रूढ़िवादी ग्रामीणों की भाँ ति उनको भी बहु का जॉब करना पसंद नहीं था। फिर उनके ग्रामीण-मापदण्डों के हिसाब से उसकी तनख्वाह काफी

ज्यादा थी। वह मानों उनके सामने अपनी सफाई-सी पेश करने लगा-'पिता जी, रेखा को प्राईवेट स्कूल में मिलता ही कितना है? मगर जरूरी है और मजबूरी भी! क्योंकि यहां रहते मुझ अकेले की जो तनख्वाह फालतू दिखती थी, शहर की महंगाई के सामने दोनों की मिलाकर भी कम पड़ जाती है। मकान का किराया, बच्चों की पढ़ाई, ट्यूशन, राशन, दूध, बिजली, फोन आदि के तरह-तरह के बिल और घर व बाहर के तमाम खर्चों के बाद हम दोनों अपना पेट काट-काटकर जितना बचाते हैं और रिटायरमैंट तक जितना भी बचा पाएंगे, उससे तो कभी-भी एक ढंग का मकान नहीं बना सकेंगे। जिंदगी-भर की कमाई से एक मकान भी न बना सकना बेशक आपको गांव में बैठकर हास्यास्पद लगे, मगर आज के शहरों की कड़वी हकीकत यही है। पिछले कुछ वर्षों में प्रोपर्टी के दाम इतने बेतहाशा बढ़ गये हैं, बल्कि यूं कहा जाए पूंजीपतियों और प्रोपर्टी-डीलरों ने मिलकर इस कद्र बढ़ा दिए हैं कि मकान हर आम नौकरीपेशा के बूते से बाहर हो चला है।' थोड़ी देर वह चुप बैठा रहा और फिर अचानक जैसे कोई भूली बात याद आ गई हो- '.... बेशक गांव में हमारे पास बहुत-सी जमींन-जायदाद और मान-सम्मान हो, लेकिन शहर में मेरी कोई इज्जत, हैसियत और पहचान नहीं, क्योंकि वहां मैं सिर्फ और सिर्फ एक किरायेदार हूं। एक टुच्चे-से मकान वाले आदमी के सामने भी मैं खुद को बौना और असुरक्षित महसूस करता हूँ।'

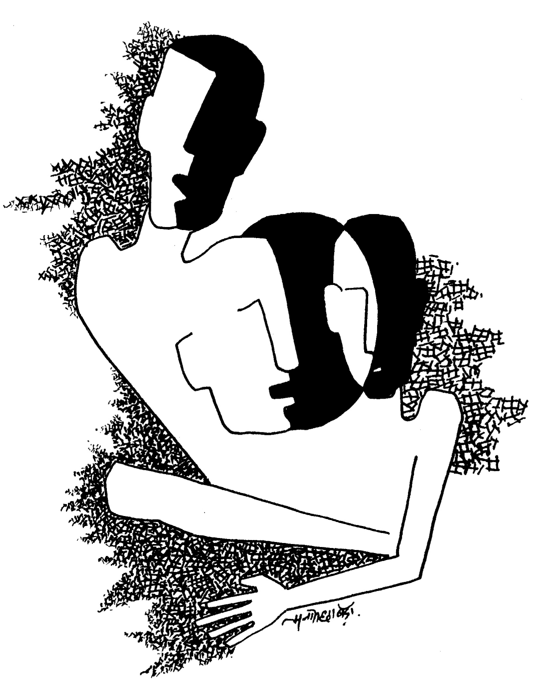

पिता जी को अंदाजा न था वह मकान को लेकर इस कद्र परेशान था। उसका दुःख-दर्द सुनकर वे भी सोच में पड़ गए- 'बेटा, तुम्हारी बातें सही हो सकती हैं, मगर इसका मतलब यह तो नहीं कि जमींन ही बेच दी जाए। वह सभी की है।'

'मैं सिर्फ अपना हिस्सा बेचने की बात कर रहा हूं, न मैंने खेती करनी है और न ही कभी मेरे बेटे ने!' सतीश जोश-जोश में कह तो गया, मगर तुरन्त ही अपनी गलती का अहसास भी हो गया। तीर कमान से निकल चुका था।

घर में आज पहली बार बंटवारे की बात चली थी। पिता जी को लगा जैसे जमींन के नहीं उनके दो टुकड़े किए जा रहे हों। बेटे के प्रति पैदा हुई ताजा-ताजा सहानुभूति मानों कहीं खो गई -'तो तुम जमींन का बंटवारा चाहते हो?' उनके मन में क्रोध की लपटें धीरे-धीरे उपर उठने लगी थी और वे चाहकर भी उन लपटों से खुद को ही झुलसने से जैसे रोक नहीं पा रहे थे-'यह जानते हुए भी कि जमींन हमारे लिए माँ समान है, फिर भी बेचना चाहते हो? .... तुम लालच में अंधे हो गए! तुम्हारे लिए रिश्तों और घर की इज्ज़त की कोई अहमियत नहीं रही!'

सतीश बात संभालने की बजाय पिता जी के आरोपों से तिलमिला-सा गया। शब्दों से भी ज्यादा उसके तेवर आक्रामक हो गए-'जमींन मैं भी नहीं बेचना चाहता, मगर आप मेरी मजबूरी क्यों नहीं समझते?....आखिर कब तक खानाबदोशों की भांति सामान उठाए हर तीसरे साल नया मकान ढूंढता रहूं? मेरी पूरी जिंदगी तो किराये के मकान की परेशानियों, तनाव और दुःखों में ही गुजर जाएगीय इज्जत और बुढ़ापे के लिए जमींन बचाकर क्या करुंगा?' बाप-बेटे के बीच अच्छी-खासी बातचीत अब बहस में तब्दील हो चुकी थी।

बेटे के तेवर देख पिता जी पहले तो हैरान-परेशान से हुए और फिर वे भी जैसे तैश में आ गए। उनका वर्षों से दबाया हुआ दर्द, क्रोध और पीड़ा आखिर खुलकर जुबान पर आ ही गया- 'हमारी मजबूरियों की भी कभी फिक्र की है तुमने?....हर हफ्ते आकर तुम्हारी खबर लिया करुंगा, यही कहकर दस साल पहले घर से निकला था न? अब छः-छः महीने तुम्हारे दर्शन ही नहीं होते। मेरी बीमारी में कई चक्कर लगाए, तो खुशी हुई तुम्हें हमारी अभी-भी थोड़ी-बहुत फिक्र-चिन्ता है, मगर तुम तो अपने मतलब के लिए आते हो! .... —कहां तो मैं उम्मीद पाले बैठा था तुम अपने बड़े भाई की भी कुछ मदद करोगे, उसके बच्चों को शहर में संग रखकर पढ़ाओगे और माँ -बाप को भी कभी कुछ लाकर दोगे, मगर तुम तो जो है उसे भी छीन.... तुम्हें शर्म आनी चाहिए! तुम पूरी तरह से शहरी हो गए हो!' पिता जी के चेहरे को दुःख और क्रोध की लकीरों ने कुरूप बना दिया था।

शहर लौटते हुए 'तुम पूरी तरह से शहरी हो गए हो' सतीश को बुरी तरह कचोटता रहा। दिल में कील बनकर चुभता और रात को लेटे-लेटे भी हथौड़े की भाँति सिर पर प्रहार करता रहा। जैसे पिता जी इससे बुरी दूसरी और कोई बात कह ही नहीं सकते थे। बड़ी से बड़ी गाली भी मानों इसके सामने बहुत छोटी थी। किसी दूसरे के लिए शायद इसमें कुछ भी खास न था। "शहर में

रहने वाला हर शख्स शहरी ही तो कहलाएगा। लेकिन बात सिर्फ इतनी-सी ही नहीं थी। बचपन से इस शब्द को सुनते आया था। 'शहरी' होने का मतलब होता था चालाक और स्वार्थी! ग्रामीणों को इस शब्द से नफरत-सी थी और उनकी बातें सुन-सुनकर खुद उसे भी। किसी "शहरी आदमी की चालाकी या धूर्तता सामने आने पर वे झट से कह देते- 'अरे छोड़ो वह तो 'शहरी' है!' मतलब शहरी है तो ऐसा होने की गारंटी है। शहरी होना ही जैसे कोई बड़ा अवगुण, लांछन और गाली था। तीस साल पहले गांवो व शहरों के बीच विकास की खाई बड़ी गहरी थी और शायद नफरत की भी! बढ़ते शहरीकरण ने इन खाइयों को आज काफी हद तक समाप्त कर दिया था। बावजूद इसके इस शब्द ने उसे झकझोरकर रख दिया। कभी स्वपन में भी नहीं सोचा था एक दिन 'शहरी' उसके लिए ही प्रयोग होगा। हालांकि स्वयं उसने भी वर्षों पहले जान लिया था, वह अब 'वह' नहीं रह गया था। फिर भी उसे सुनकर तकलीफ हुई। काश सारी दुनिया कह लेती, किन्तु पिता जी न कहते!

चार महीने बाद बेटे की परिस्थितियों, नाराजगी और जिद्द के आगे पिता जी को अन्ततः झुकना पड़ा था। उनके पास शायद कोई और रास्ता बाकी ही नहीं बचा था। एक तो वे बीमार होकर शारीरिक व मानसिक रूप से थोड़ा दुर्बल हो चले थे। दूसरा कल उन्हें कुछ हो गया तब भी तो जमींन बेटे को ही मिलेगी, फिर उसे मनमर्जी करने से कौन रोक पाएगा? इसलिए बेहतर है अभी जीते जी ही मान लिया जाए। कलेजे पर पत्थर रखकर उन्होंने जमींन बेचने की स्वीकृति दे दी।

मकान का ख्वाब अचानक इतना जल्दी पूरा होते देख सतीश का परिवार सातवें आसमान पर था। सबकी आंखों में मकान का नक्शा तैरने लगा और बार-बार अनेक संशोधनों सहित कागज पर भी बनने लगा। दोनों बच्चों ने अपने-अपने भावी कमरे चुन लिए। रेखा ने घर की सजावट की वस्तुओं के साथ-साथ, गृह-प्रवेश के अवसर पर बुलाए जाने वाले मेहमानों की भी एक लम्बी सूची तैयार कर ली थी।

आज मनोज और सेठ जमींन का सौदा पक्का करने गाँव आने वाले थे।

सतीश भी तय वक्त से पहले ही गांव की पगडंडी पर चलते-चलते खेत में आम के पेड़ के नीचे जाकर बैठ गया। आज एक लंबे अर्से बाद वह खेत में आया था। बसंत के मौसम में चारों ओर दूर-दूर तक फैली गेहूं व अन्य फसलों की हरियाली को बीच-बीच में पीली सरसों के फूल जैसे माला पहना रहे थे। पश्चिम में हल्क-हल्के बादलों के बीच घण्टा-भर पहले ही अस्त होता सूर्य अति सुंदर प्रतीत हो रहा था। कितना सुन्दर, सुखद, सुकूनभरा और मधुर नजारा था! उसे एक असीम शाँति का अहसास हुआ। "शहर में रहते हुए इस हरियाली और शांति को तो वह जैसे बिल्कुल ही भूल चुका था।

बड़ा भाई थोड़ी दूरी पर गन्ने की बुआई के लिए ट्रैक्टर से खेत जोत रहा था और पिता जी गेहूं के खेत की सिंचाई कर रहे थे। बुढ़ापे और बीमारी के बावजूद भी वे टिककर नहीं बैठ सकते। पास के खेत में भैंसों के लिए चारा काट रहे दोनों भतीजे उसे देखते ही अपनी-अपनी दरांती फेंककर उसकी तरफ दौड़े। वे भी अब बड़े हो गए, एक तो कॉलेज जाने लगा था। चाचा को देखकर उनकी आंखों में खुशी की चमक मानों संभाले नहीं संभल रही थी। दोनों ने पास आकर पैर छुए। वे अपनी पढ़ाई के बारे में बता रहे थे, किन्तु वह उनमें ठीक इसी तरह और इन्हीं खेतों में काम करते हुए स्वयं तथा बड़े भैया के बचपन को तलाश रहा था। बचपन से जुड़ी बहुत-सी पुरानी यादों ने उस पर अचानक जैसे हमला-सा कर दिया था। पल-भर में ही वह तीस वर्ष पीछे लौट गया।

दोनों भाई स्कूल से छुट्टी होते ही जल्दी-जल्दी घर पहुंचते, एक काने में बस्ता पटकते, खाना खाते और खेतों के लिए निकल पड़ते। गर्मियों की पूरी दोपहर तो इसी पेड़ पर, जिसके नीचे वह बैठा था, कच्चे आम खाते हुए गुजरती थी। उन दिनों पिता जी बैलों से खेत जोतते थे और वे दोनों उनके लिए घर से बार-बार पानी, लस्सी, चाय और खाना लेकर आया करते थे। पशुओं के लिए चारा काटने, फसल बोने व सिंचाई करने से लेकर फसल कटाई तक हर काम में खुशी-खुशी पिता जी का हाथ बंटाया करते थे। बचपन में वह खूब शरारती और नटखट भी हुआ करता था और इसलिए काम को लेकर अक्सर भैया से झगड़ा भी हो जाता था। तब बड़े होने की वजह से गलती न होते हुए भी बेचारे भैया को ही ज्यादा डांट और कभी-कभी तो मार भी पड़ती थी। याद करके होठों पर एक हल्की-सी मुस्कान तैर गई। कितनी मधुर, सुहानी और चुलबुली यादें जुड़ी थी इस जमींन से! दोहराकर मन को जैसे बड़ा आनन्द, सुकून, और शाँति मिली थी। जब-जब साल-छः महीनें बाद उसका खेत में आना होता, वह हमेशा ऐसे ही बीते वक्त में खो जाता था।

क्या जमींन बिकते ही उसकी इन यादों का अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा? क्योंकि तब यहां उनके यह लहलहाते खेत न होकर किसी सेठ की धुआं उगलती फैक्ट्री होगी। कहीं वह अपने बचपन और यादों का सौदा तो नहीं कर रहा? यह प्रश्न दिमाग में अचानक कौंधा और फिर वहीं अटका रह गया। मन एक अजीब-सी बेचौनी, तनाव और अवसाद से घिर आया।

भतीजे जाकर फिर से काम में जुट गए थे। वह मंत्र-मुग्ध-सा एकटकी लगाए उन्हें देखे जा रहा था। उनमें अभी-भी वही भोलापन बरकरार था, जो कभी उसमें हुआ करता था। यह गांव की मिट्टी की महक और आबो-हवा का कमाल था। इससे कटकर ही तो वह 'शहरी' बना था। दूसरों की देखा-देखी धीरे-धीरे वह भी आत्मकेन्द्रित, चालाक, झूठा और स्वार्थी बनता चला गया। शहर ने न सिर्फ उसके वजूद को निगला बल्कि उसकी मासूमियत, भोलेपन और निर्दोषिता को भी साथ-साथ ही निगल लिया था।

बेशक वह बदल गया, परन्तु बाकी परिवार तो अभी-भी वही थाय जमीन से वैसा ही रिश्ता व जुड़ाव था। उनके लिए जमींन सिर्फ रोजी-रोटी का साधन नहीं बल्कि मान-सम्मान, प्रतिष्ठा और एक ऐसी धरोहर थी, जिसे वे अपनी अगली पीढ़ियों को सौंपे जाने में यकीन रखते थेय किसी भी कीमत पर बेचने में नहीं! उनकी पूरी दुनिया पुरखों की इस जमींन तक ही सीमित थी। इस जमींन पर खेतीबाड़ी के अतिरिक्त उनके पास सोचने व करने की खातिर और कुछ भी न था।....और पिता जी? वे अपनी नजरों के सामने अपनी ही जमींन पर किसी और का कब्जा कैसे बर्दाश्त कर पाएंगे? ग्रामीणों और रिश्तेदारों के सामने कितना बेइज्ज्त महसूस करेंगे! भले ही बेटे की खुशी की खातिर वे त्याग करने को राजी हो गए हों, मगर उनकी पीड़ा, बेबसी और लाचारी क्या उससे छिपी थी। क्या वह बुढ़ापे में उन्हें दुख पहुंचाएगा? उन्हें वक्त से पहले ही मार देगा? इस आशंका मात्र से ही वह कांप गया। आखिर वह इतना भी बुरा, स्वाथी और नीच नहीं हो सकता!

नहीं, वह जमींन नहीं बेचेगा! फैसला हो चुका था।

मनोज और सेठ को पिता जी की अचानक ज्यादा तबीयत बिगड़ जाने का बहाना बनाकर फोन द्वारा रास्ते से ही लौटा दिया गया।

रात को सतीश शहर में अपने उसी किराये के मकान में वापिस लौट आया, जिसे अगले सप्ताह खाली कर नया ढूंढना था। वह जैसे गांव के आदर्श और कल्पना-लोक से लौटकर हकीकत के कठोर धरातल पर आन खड़ा हुआ था। आते ही उसने हिचकिचाहते हुए बीवी-बच्चों को अपना फैसला सुना दिया। उन पर तो जैसे वज्रपात हुआ था। वे सभी भौचक्के और आश्चर्यचकित होकर उसे आँखें फाड़े देखे जा रहे थे। उनकी उम्मीदों के खिले फूलों पर उसने आकर तेजाब डाल दिया था। उनके अभी-अभी बनकर तैयार हुए घर को मानों किसी भयंकर भूकंप ने उनकी आंखों के सामने पल-भर में ही धराशायी कर दिया था।

वे सभी जानना चाहते थे, उसने ऐसा क्यों किया? एक बार भी उनके बारे में नहीं सोचा? जब स्वयं किस्मत ने ही दरवाजे पर दस्तक देकर जिंदगी की सबसे बड़ी और वर्षों पुरानी समस्या का इतना आसान हल निकाल दिया था, फिर उसकी अक्ल पर क्यों पत्थर पड़ गए? क्यों भावनाओं में बहकर ऐसी बेवकूफी कर बैठा? क्यों उनके सपनों, उम्मीदों, इच्छाओं और महत्वाकाक्षांओं को मिट्टी में मिला दिया?

रेखा की आंखों से आंसू छलक आए। बच्चे भी बिल्कुल रुआंसे हो चले थे। वे उसकी कोई भी दलील नहीं सुनना चाहते। उनकी पहाड़ जैसी उम्मीदों और टूटते सपनों के सामने उसके तर्क बिल्कुल चींटी जैसे लगते थे। उनके प्रश्नों की बाढ़ के सामने पांव उखड़कर जैसे वह बहे चला जा रहा था।

रात-भर सतीश सो न सका। 'क्या भावनाओं में बहकर उसने सचमुच ही बड़ी गलती कर दी थी? क्या उसे फिर से अपना फैसला पलट देना चाहिए? .... क्या वास्तव में उसे घर, माँ-बाप और जमींन की कोई परवाह नहीं रही? क्या वह पूरी तरह ही 'शहरी' हो गया?' सैंकड़ों प्रश्न रात-भर मधुमक्खियों की तरह उसके मन-मस्ति'क पर भिन्नभिनाते रहे। वह बार-बार अपने फैसले को तराजू में रखकर तौलता। कभी गाँव का पलड़ा भारी हो जाता, कभी शहर का! कभी खेत भारी हो जाते, कभी मकान! कभी माँ-बाप, तो कभी बच्चे! वह इस द्वन्द्व, तनाव, पीड़ा, बेचौनी और अवसाद को अब और नहीं झेल सकेगा। लगता था जैसे सचमुच ही पागल हो जाएगा। वह जल्द से जल्द इससे मुक्ति चाहता था।

सुबह उठकर उसने मनोज को फोन किया-'कल पिता जी की मामूली-सी तकलीफ से हम सब कुछ ज्यादा ही घबरा गए थे, लेकिन अब वे बिल्कुल ठीक-ठाक हैं। शाम को फिर से चलते हैं और आज तो मैं भी तुम्हारे साथ ही गाड़ी में निकल चलूंगा।'

सुनकर पत्नी और बच्चों के मुर्झाए चेहरों पर फिर से मुस्कान लौट आई। सतीश भी उनकी तरफ देखकर मुस्कराने की कोशिश करने लगा।

जयपाल की कविता

वे और हम

वे गाते रहे
हम नाचते रहे
वे बोलते रहे
हम सुनते रहे
वे सोचते रहे
हम मानते रहे
वे लिखते रहे
हम पढते रहे
सदियां गुजर गई
कुछ इसी तरह
बिना गाये
बिना बोले
बिना सोचे
और
बिना कुछ लिखे

100वीं जयंती पर स्मृति

राष्ट्रीय एकता और भाषा की समस्या

भीष्म साहनी

मैं भाषाविज्ञ नहीं हूं, भाषाएं कैसे बनती और विकास पाती हैं, कैसे बदलती हैं, इस बारे में बहुत कम जानता हूं, इसलिए किसी अधिकार के साथ भाषा के सवाल पर नहीं बोल सकता। मेरी अपनी स्थिति भी अनूठी ही है। मेरी मातृभाषा पंजाबी है, मेरी शिक्षा उर्दू भाषा में हुई है, लिखता मैं हिंदी भाषा में हूं और पढ़ाता मैं अंग्रेजी हूँ। आप कहेंगे, ऐसा व्यक्ति न घर का, न घाट का। जो चार जबानों से वासता रखता हो, वह एक जबान का भी नहीं हो पायेगा।

पर शायद ऐसी स्थिति से मुझे एक लाभ भी है। भाषा के सवाल को मात्र भावना से स्तर पर लिए जाने, और उससे पैदा होने वाली उत्तेजना और सिरफुटौव्वल से बचा रहता हूँ। अंग्रेजी को छोडूं तो खाऊँगा कहाँ से, हिंदी को छोडूं तो जिंदगी-भर का किया-कराया कुएँ में, पंजाबी को कैसे छोड़ सकता हूँ वह तो मेरे खून में है, और उर्दू को कैसे छोडूं वह तो मुझे संस्काररूप में मिली है। मुझे ये सभी भाषाएँ प्यारी हैं, मैं किसी एक को भी छोड़ना नहीं चाहता, मैं इनकी उपयोगिता से इनकी देन और महत्त्व से परिचित हूँ। और शायद इसी कारण मैं इस सवाल पर बोलने का दुःसाहस भी कर बैठा हूँ।

कौन नहीं जानता कि भाषा के सवाल को लेकर हमारे देश में तरह-तरह की विडम्बनाएँ पायी जाती हैं। मैं आपके सामने अपने कुछेक विडम्बनापूर्ण अनुभव ही रखना चाहता हूँ।

मेरे पिताजी हिंदी भाषा के उत्साही समर्थक थे, पर अपना सारा पत्र-व्यवहार उर्दू भाषा में किया करते थे। पंजाब में हिंदी भाषा का प्रचार सबसे अधिक दो उर्दू पत्रिकाओं 'मिलाप' और 'प्रताप' के माध्यम से किया जाता रहा है। आर्य समाज से एक विभाग का मुखपत्र 'आर्यगजट' नाम की एक पत्रिका हुआ करती थी, जो उर्दू में प्रकाशित की जाती थी, आज भी उसकी कुछ पुरानी प्रतियां मेरे पास रखी हैं। मेरे पिताजी आर्यसमाजी विचारों के थे, आर्यसमाज के जाने-माने कार्यकर्त्ता थे। हमारे घर में रोज बहसें चला करती थीं, हिंदी भाषा को लेकर, और अक्सर इन बहसों में गर्मी भी आने लगती। एक दिन मैंने कहा, ''तो पिता जी, आपकी ही बात रही। आज से हम घर में केवल हिंदी बोला करेंगे, न पंजाबी में बात करेंगे, न अंग्रजी में। शुद्ध हिंदी में बोलेंगे।'' पिताजी क्या कहते। उन्हें मानना पड़ा, पर तीसरे वाक्य पर ही उनकी जबान लड़खड़ा गयी। हिंदी का प्रचार करना एक बात है, हिंदी का प्रयोग करना बिल्कुल दूसरी बात। घर के अंदर, परिवार के सदस्यों के बीच हिंदी में वार्तालाप कर पाना उन्हें बड़ा अटपटा लगने लगा, और शीघ्र ही वह अपनी मातृभाषा पंजाबी पर लौट आये और कहने लगे, ''यह क्या है, तू अपने बाप के साथ मजाक करता है।''

पिताजी व्यवसाय के व्यापारी थे। पेशावर, श्रीनगर आदि स्थानों पर दुकानदारों के साथ उनका पत्र-व्यवहार रहता था। उनके साथ उनकी जारी चिट्ठी-पत्री उर्दू भाषा में चलती थी। एक दिन जब मैंने उनसे कहा कि आप उन्हें हिंदी भाषा में पत्र लिखा कीजिए तो बिगड़ उठे, ''क्या बकता है? तू मेरा व्यापार चौपट करना चाहता है?'' पिताजी की अपनी शिक्षा उर्दू और फारसी में हुई थी। कभी-कभी मैं उन्हें शेखसाअदी और अनेक कवियों का कलाम गुनगुनाते पाता, एक बार कहने लगे, ''तुम्हें कभी मौका लगे तो फारसी जरूर पढ़ना। बड़ी खूबसूरत जबान है। शेखसाअदी ने 'गुलिस्तां' और 'बोस्तां' में बड़ी सुदंर बातें कही हैं।''

पिताजी ने हमारे लिए हिंदी और संस्कृत भाषाएँ पढ़ने की विशेष व्यवस्था की, पर गनीमत यह रही कि उन्होंने हमें उर्दू और अंग्रेजी पढ़ने से नहीं रोका, क्योंकि व्यापारी के नाते वह इन भाषाओं की उपयोगिता और जरूरत को जानते थे। वह हिंदी के साथ अपने भावनात्मक लगाव पर यथार्थ जीवन की जरूरतों को कुर्बान नहीं करना चाहते थे। वह हिंदी को लागू तो करना चाहते थे लेकिन अन्य भाषाओं को नुकसान पहुँचा कर नहीं।

आजादी के बाद स्थिति बहुत कुछ बदली। जिस उदार दृष्टि की जरूरत थी, वह नहीं रही। हमारा देश बहुजातीय और बहुभाषी देश है, सभी लोग अपनी-अपनी जबान से प्यार करते हैं, और सभी अपनी-अपनी जबान से जुड़े हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी मातृभाषा सबसे सुंदर, सबसे मीठी भाषा होती है। उसमें उसकी मां की आवाज बोलती है, सैकड़ों-हजारों वर्षो की संस्कृति बोलती है, उसमें वह अपने दिल की धड़कनें सुनता है, इसलिए जबान का मसला नाजुक मसला है। इसे दूसरे का दिल दुखाकर, अपनी भाषा को ऊँचा और दूसरे की भाषा को छोटा कह कर नहीं सुलझाया जा सकता।

पिछले कुछ सालों में जहां हिंदी का पठन-पाठन बढ़ा है वहां अहिंदी भाषी प्रांतों में हिंदी की लोकप्रियता कम हुई है। जमाना था जब दक्षिणी भारत में बड़े उत्साह से हिंदी का अध्ययन किया जाता था। मेरे एक तमिल मित्र दस वर्षो तक बहुत ही मामूली वेतन लेकर एक स्वयंसेवक की तरह हिंदी अध्यापन का काम तमिलनाडु में करते रहे थे। पर अब स्थिति बदल गयी है। हिंदी डायरेक्टरेट द्वारा आयोजित एक लेखक-कैंप में मुझे विशाखापट्टनम जाने का सुअवसर मिला। रेलगाड़ी में बैठा। मैं विशाखापट्टनम की ओर जा रहा था जब उसी प्रदेश के रहने वाले एक मुसाफिर से बातें होने लगीं। जब उस सज्जन को पता चला कि मैं हिंदी कैंप में भाग

लेने जा रहा हूँ तो उसने मुंह फेर लिया। बड़ी रूखाई से बोले, ''तुम अपने घर से दूर बस इसी काम के लिए जा रहे हो? इससे बेहतर काम तुम्हें नहीं मिला।''

ऐसा ही एक अनुभव मुझे मास्को में भी हुआ जहां मैं एक अनुवादक से रूप में काम करता था। एक दिन मैं वहां फ्रांसीसी दूतावास में वीज़ा लेने गया तो वहां मेरी मुलाकात एक दक्षिण भारत से आये युवक से हो गयी, वह भी वीज़ा लेने आये थे। उन्हें भी जब पता चला कि मैं हिंदी में कहानियां लिखता हूं तो उन्होंने भी मुंह फेर लिया जब दूतावास की परिचारिका थोड़ी देर बाद कमरे में आयी तो एक हिंदुस्तानी का मुंह एक दीवार की ओर था और दूसरे का दूसरी दीवार की ओर।

भाषा के सवाल को लेकर सबसे बड़ी भूल जो हमारे देश में हुई है, वह इसे धर्म के साथ जोड़ना था। और यह भूल अभी भी की जा रही है, और यदि आगे भी ऐसे ही चलता रहा तो इसके बड़े दुःखद परिणाम निकलेंगे।

इस दृष्टि से सबसे विकट स्थिति उर्दू भाषा की रही है। उर्दू की कहानी भी अनूठी कहानी है। देश का बंटवारा होने पर पाकिस्तान ने अपनी राष्ट्रभाषा उर्दू घोषित की। हमारे यहाँ लोगों ने कहा, ठीक ही तो है, पाकिस्तान में मुसलमान बसते हैं, मुसलमानों की जबान उर्दू ही तो है। पर कुछ ही साल बाद पूर्वी पाकिस्तान - जो अब बांगलादेश कहलाता है - के मुसलमानों ने कहा कि हमारी भाषा तो बंगाली है, उर्दू नहीं है। और इसके कुछ ही दिन बाद पश्चिमी पंजाब के मुसलमान कहने लगे कि हमारी मातृभाषा तो पंजाबी है और सिंध के मुसलमानों ने कहना शुरू कर दिया कि हमारी भाषा सिंधी है, और सीमा प्रांत के मुसलमानों ने कहा कि उनकी जबान पश्तो है। ये आवाजें उठीं जरूर, लेकिन सांप्रदायिकता का जोर वहाँ पर भी ज्यादा होने के कारण ये आवाजें दब गयीं।

पर सवाल जरूर उठता है, अगर उर्दू जबान मुसलमानों की है तो बांगला देश के मुसलमान उर्दू को क्यों नहीं अपना पाये? अगर पंजाबी जबान सिक्ख मत वालों की जबान है तो क्या वह मेरी जबान नहीं हो सकती?

इसमें शक नहीं कि भावनात्मक लगाव के कारण हम अपने सहधर्मियों से जुड़ते हैं, अपनी जाति के लोगों से जुडते हैं। पर भाषा उनमें एक तत्त्व होती है, और वह भी कई बार निर्णायक तत्त्व नहीं होती। कहीं पर एक जाति के लोगों के धर्म अलग-अलग होते हैं, पर भाषा एक होती है, कहीं-कहीं पर धर्म एक होता है पर भाषाएँ अलग-अलग होती है। रूस में रहने वाली यहूदी की भाषा रूसी है, जर्मनी में रहने वाले यहूदी की भाषा जर्मन है। इंगलैंड में रहने वाले यहूदी की भाषा अंग्रेजी है, भले ही धर्म सभी का एक है और भावानात्मक स्तर पर वे यहूदी धर्म और यहूदी भाषा से जुड़े हैं।

बहुत दिन पहले एक बार मुझे नागपुर जाने का इत्तफ़ाक हुआ। पंजाब से निकले बहुत अर्सा बीत चुका था और मैं बड़ा अकेला महसूस कर रहा था। नागपुर की सड़कों पर घूमते हुए मुझे एक दिन एक सरदार जी नजर आ गये। वह दुबला-पतला सरदार कोई पोस्टमैन था, जो साइकिल पर डाक बांटने निकला था। उसे देखते ही मैं उसके पीछे भाग खड़ा हुआ। मैंने कहा और नहीं इसके साथ पंजाबी भाषा में दो बात तो कर सकूँगा। मैं लपककर उसके पास पहुंचा। वह साइकिल पर से उतर आया ओर हैरान-सा मेरी ओर देखने लगा। मैंने ठेठ पंजाबी में उसका अभिवादन किया और पंजाबी में ही उससे बतियाने लगा। लेकिन मेरी हैरानी की सीमा न रही जब मैंने पाया कि वह मेरी बात नहीं समझ रहा है। वह सिक्ख था, सिर पर केश थे, कलाई पर कड़ा था, लेकिन वह हत्बुद्धि-सा मेरे ओर देखे जा रहा था। मुझे झेंप हुई तब उसने मराठी भाषा में तथा टूटी-फूटी हिंदूस्तानी में मुझसे कहा कि वह मेरी जबान नहीं जानता कि उसके बाप-दादा किसी जमाने में महाराष्ट्र में आकर बस गये थे और वह केवल मराठी भाषा ही जानता है।

यदि भाषा मजहब से जुड़ी है तो उस सरदार की भाषा पंजाबी क्यों नहीं थी? नागपुर में बस पाने वाले सिक्ख की भाषा मराठी है, पंजाबी नहीं, केरल में बस जाने वाले मुसलमान की भाषा मलयालम है, उर्दू नहीं।

हां किसी दूसरे भाषाई क्षेत्र में रहते हुए भी, यदि कुछ लोग, भावनात्मक कारणों से किसी भाषा से जुड़ते हैं, तो इसका यह मतलब नहीं हो जाता कि भाषा धर्म से जुड़ी है।

हमारे यहां ऐतिहासिक कारणों से ऐसे क्षेत्र भी हैं जिनके अंदर ऐसे भाग पाये जाते हैं जहां भारी संख्या में बसे हुए लोगों की भाषा उस क्षेत्र की भाषा न होकर, कोई दूसरी भाषा है, जैसे आंध्र प्रदेश में हैदराबाद का इलाका, जहां उर्दू बोली जाती है, बंबई में बसे हुए हिंदी-भाषी, पंजाबी-भाषी तथा अनेक अन्य भाषाएं बोलने वाले लोग। लेकिन इससे भी हम यह नतीजा नहीं निकालते कि उनकी भाषा धर्म से जुड़ी है।

हर प्रदेश की अपनी भाषा है, लेकिन अगर किसी इलाके की भाषा उर्दू रहते हुए भी आप यह कहकर उसे मान्यता नहीं देना चाहते कि उर्दू मुसलमानों की भाषा है तो यह आपकी अपनी सांप्रदायिकता ही है, और कुछ नहीं। सांप्रदायिकता के हाथों किसी भाषा की क्या गति हो सकती है, इसकी मिसाल शायद उर्दू की स्थिति से बढ़कर और कहीं नहीं मिलेगी। उर्दू के बारे में कमाल तो यह है कि कभी कहा जाता है कि यह भाषा है, और कभी कहा जाता है कि यह भाषा नहीं है। आप कहते हैं, तो यह वजूद में आ जाती है, आप कहते नहीं हैं, तो गायब हो जाती हैं वर्षो पहले जब भारत सरकार की ओर से भाषा संबंधी एक कमीशन बनाया गया था तो एक वरिष्ठ हिंदी-प्रेमी ने बड़ा चहक कर कहा था, ''उर्दू का काम तो हमने तमाम कर दिया।'' वह बोल उर्दू में ही रहे थे, लेकिन उन्हें इस बात का संतोष था कि उर्दू को उन्होंने मार मिटाया है। जाहिर है वह हवा में अपनी तलवार चला कर नहीं आये थे। कभी यह भी कहा जाता है कि उर्दू अलग से कोई भाषा नहीं है, वह मात्र अलग लिपि है। यदि हिंदी और उर्दू एक ही भाषा है और

उनकी दो लिपियां हैं, तो आप दोनों लिपियों को मान्यता दे दीजिए। इसमें क्या दिक्कत है? लेकिन कुछ लोगों का कहना है कि इस साझी भाषा की एक ही लिपि हो सकती है, और वह देवनागरी लिपि है। इसके पीछे तो यही जहनियत काम कर रही है कि लिपि को मारों, जबान अपने आप मर जायेगी। एक हवा उठी थी कि उर्दू को देवनागरी में लिखना चाहिए। चूँकि हिंदी ओर उर्दू एक ही भाषा हैं, इसलिए उर्दू के कवि भी वास्तव में हिंदी के ही कवि हैं। पर जब पाठ्य-पुस्तकें छपने लगीं तो गालिब, मीर और उर्दू के अन्य कवियों का कहीं नाम नहीं। कहीं एकाध कवि को लेकर आलुओं पर से मिट्‌टी पोंछी गयी थी। अगर इसके पीछे सच्चा विश्वास होता तो कौन नहीं जानता कि गालिब न केवल भारत के बल्कि संसार भर के महान कवियों में माने जाते हैं। और उर्दू साहित्य ने हमारे देश के साहित्य को चार चांद लगाये हैं। यदि सचमुच हमें इस साहित्य से प्रेम होता तो उसे सुरक्षित और अधिक विकसित कर पाने के लिए, उसे पूरी-पूरी मान्यता देते, और उस भाषा और साहित्य की परंपराओं को जीवित रख पाने के भरसक प्रयत्न करते। हमारी स्थिति की विडंबना यह है कि हम कभी तो उर्दू के अस्तित्व से ही इन्कार करते हैं, और कभी केवल कागजी तौर पर उसके अस्तित्व को मान्यता देते हैं। जब कागजी मान्यता देते हैं तो उर्दू की तरक्की के लिए उर्दू बोर्ड खड़ा करते हैं, लाखों-करोड़ों की रकम जुटाते हैं, लेकिन व्यवहार में उसके अस्तित्व को मान्यता नहीं देते। यह नीति बिल्कुल वही है कि किसी पेड़ की शाख-पत्तियों पर तो पानी छिड़को, लेकिन पेड़ की पड़ काट दो। यदि आप सचमुच चाहते हैं कि उर्दू फले-फूले तो आप ही का यह फर्ज भी हो जाता है कि आप स्वयं इस बात का अध्ययन करें और उसे उनके प्रदेश में बहाल करें, उसे सरकारी मान्यता मिले, स्कूलों-कालेजों में बाकायदा उर्दू पढ़ाई जाने लगे, उर्दू की शिक्षा जड़ पकड़े, बढ़े। कभी अनुदानों से भी भाषाएँ जीवित रह पायी हैं?

यदि उर्दू के साथ न्याय नहीं किया गया तो हम साम्प्रदायिकता के दोष से कभी मुक्त नहीं हो पायेंगे। हाल ही में हमारे गृह-मंत्री ने टिप्पणी की है कि उर्दू आक्रमणकारियों की भाषा है। यह भाषा के सवाल को जान-बूझकर साम्प्रदायिकता का रंग देना है, कौन नहीं जानता कि उर्दू का जन्म हमारे अपने देश में हुआ था, हमारे ही देशवासियों की प्रतिभा ने उसे विकसीत किया है, निखारा है। 700 बरस पहले जहां से आक्रमणकारी आये थे, वहाँ की जबान न तब उर्दू थी, न आज है। और यदि आक्रमणकारियों की जबान को आप मान्यता नहीं देना चाहते तो संस्कृत भी तो आक्रमणकारियों की ही जबान थी। यह सवाल को जानबूझकर सियासी रंग देना है। किसी भाषा पर विचार करते समय न तो हम इस बात को प्राथमिकता देते हैं कि उस भाषा के बोलने वालों का धर्म क्या है, और न इस बात को कि वे आक्रमणकारी हैं, अथवा नहीं। कौन नहीं जानता कि ये आक्रमणकारी मूलतः हमारी अपनी जाति के ही लोग थे।

यह एतराज भी उठाया जाता है कि उर्दू में भारतीय संस्कृति सी छाप न मिल कर किसी विदेशी बाहरी संस्कृति की छाप मिलती है, साकी और पैमाना की, गुल ओ बुलबुल की, आदि-आदि। क्या यह सच नहीं कि रेनेसा काल में सारे यूरोप के साहित्य पर यूनानी और रोमन पुराण कथाओं की भरपूर छाप पड़ी थी, जो अब इन देशों के साहित्य का अभिन्न अंग बन गयी है, क्या उससे अंग्रेजी साहित्य, अंग्रेजी साहित्य ही नहीं रह गया था, या अंग्रेजी भाषा अंग्रेजी भाषा नहीं रह गयी थी?

हमारी स्थिति की विडंबना भाषा में शुद्धता पर जोर देने में भी पायी जाती है। शुद्ध भाषा का मसला भी सांप्रदायिकता की ही देन है। भाषा शुद्ध होनी चाहिए, मतलब कि संस्कृतनिष्ठ होनी चाहिए। हिंदी भाषा में शुद्ध की माँग भी बहुत हद तक उर्दू को ही लक्ष्य करके की जाती है। उर्दू का शब्द किसी वाक्य में आ जाये तो कुछ भाई लोगों को चिढ़ होती है, अंग्रेजी का शब्द आ जाये तो इतनी चिढ़ नहीं होती, बल्कि कहीं-कहीं पर तो खुशी होती है क्योंकि इससे बौद्धिकता का, आधुनिकता का रंग आता है।

हमारे देश का दुर्भाग्य यह रहा है कि हमारे सयासतदान भाषा को हाँकते रहे हैं। भाषा के नाम पर लोगों को हाँका नहीं जा सकता। मैं तो कहूँगा कि सयासतदान को भाषा के पीछे-पीछे चलना चाहिए, उसके विकास-क्रम को समझना चाहिए, भाषा खुद उसे रास्ता दिखाएगी, भाषा के आगे-आगे चल कर उसका मार्गदर्शन नहीं करना चाहिए। हिंदी में से उर्दू के शब्दों को चुन-चुन कर निकालने का काम, हिंदी के अंदर, संस्कृत के शब्द ढूँढ़-ढूँढकर ठूँसने का काम, हमारे सयासतदानों के ही हुक्म पर होता रहा है। 'सिगरेट पीना मना है' काटकर आपने 'धूम्रपान वर्जित है' लिख दिया, यह अपने मतानुसार भाषा को चलाने की चेष्टा है, उसे हाँकने की कोशिश है, वरना आप जन-जीवन में पाये जाने वाले बोलचाल के शब्दों को क्यों नहीं अपनाते?

भाषा का सवाल न तो स्कूलों-कालिजों की शिक्षा के क्षेत्र में अभी तक संतोषजनक ढंग से सुलझ पाया है न विज्ञान और टेक्नालोजी के क्षेत्र में, न संस्कृति के क्षेत्र में और न ही प्रशासन के क्षेत्र में, क्योंकि इसे हल करने की कोशिश के पीछे भाषाई अंधराष्ट्रवाद अथवा संकीर्ण सांप्रदायिकता काम कर रही है। क्या कारण है कि अनेक देशों ने इसे सुभीते से हल कर लिया है जबकि हमारे यहाँ यह और ज्यादा पेचीदा होता चला गया है। स्विट्‌जरलैंड में तीन भाषाओं में सरकार का सारा काम चलता है। फ्रेंच, जर्मन और स्विस भाषाओं में, और स्विट्‌जरलेंड छोटा-सा देश है। वहाँ किसी एक भाषा को आसानी से राष्ट्रभाषा घोषित किया जा सकता था और उसे ऊंचा दर्जा देकर अन्य भाषाओं को सहयोगी भाषाओं का दर्जा दिया जा सकता था। पर वहाँ भाषा के सवाल पर जातपात नहीं बरती जाती। हमारे यहाँ हर बात में जात-पात ऊंच-नीच चलती है। किसी भी समस्या को हम वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखने-आंकने में असमर्थ होते जा रहे हैं। जब तक विवेकपूर्ण, तर्कसंगत, सद्‌भावनापूर्ण और वैज्ञानिक दृष्टि से इस मसले को सुलझाने की कोशिश नहीं की जाती उस वक्त तक यह प्रश्न हमारी प्रगति के रास्ते में बहुत बड़ी रूकावट बना रहेगा।

मातृभाषा है माता समान

-मो.क. गांधी

हमारे पूजनीय और स्वार्थत्यागी नेता पंडित मदनमोहन मालवीय नहीं आ सके। मैंने उनसे प्रार्थना की थी कि जहां तक बने सम्मेलन में उपस्थित रहिएगा। उन्होंने वचन दिया था कि वे जरूर आएंगे। पंडितजी सम्मेलन में तो उपस्थित नहीं हुए, पर उन्होने एक पत्र भेज दिया है। मैं उम्मीद करता था कि यदि पंडित जी नहीं आएंगे तो उनका पत्र अवश्य आएगा और उसे मैं आप लोगों के सामने उपस्थित कर सकूंगा। यह पत्र मुझे आज मिला है। मैंने स्वागतकारिणी सभा को हिन्दी के विषय में विद्वानों से दो प्रश्नों पर सम्मति लेने के लिए कहा था, उन्हीं का उत्तर पंडितजी ने पत्र में दिया है। (मालवीयजी का पत्र पढ़कर गांधी जी ने इस प्रकार कहा :

भाईयो और बहनों,

मैं दिलगीर हूं जो व्याख्यान सम्मेलन में देने का मेरा इरादा था, वह आपके सामने नहीं रख सका हूं। मैं बड़े झंझटों में पड़ा हूं। मेरी इस समय बड़ी दुर्दशा है। इससे मैं काम नहीं कर सका। पर मैंने वायदा किया था कि मैं आऊंगा और आ गया, किंतु जो चीज सामने रखने का इरादा था, नहीं रख सका। यह भाषा का विषय बड़ा ही महत्वपूर्ण है। यदि सब नेता सब काम छोड़ कर केवल इसी विषय पर लगे रहें, तो बस है।

यदि हमलोग भाषा के प्रश्न को गौण समझें या इधर से मन हटा लेंगे तो इस समय लोगों में जो प्रवृति चल रही है, लोगों के हृदयों में जो भाव उत्पन्न हो रहा है, वह निष्फल हो जाएगा।

भाषा माता के समान है। माता पर हमारा जो प्रेम होना चाहिए, वह हम लोगों में नहीं है। वास्तव में मुझे तो ऐसे सम्मेलनों से प्रेम नहीं है। तीन दिन का जलसा होगा। तीन दिल कह-सुनकर हमें (आगे) जो करना चाहिए, उसे हम भूल जाएंगे। सभापति के भाषण में तेज नहीं है, जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह वस्तु उसमें नहीं है। इससे बड़ी कंगाली की मैं कल्पना नहीं कर सकता। हम पर और हमारी प्रजा के ऊपर एक बड़ा आक्षेप यह है कि हमारी भाषा में तेज नहीं है। जिनमें विज्ञान नहीं है। उनमें तेज नहीं है। जब हममें तेज आएगा, तभी हमारी प्रजा में और हमारी भाषा में तेज आएगा। विदेशी भाषा द्वारा आप जो स्वातंत्र्य चाहते हैं, वह नहीं मिल सकता, क्योंकि उसमें हम योग्य नहीं हैं।

प्रसन्नता की बात है कि इंदौर में सब कार्य हिन्दी में होता है। पर क्षमा कीजिएगा, प्रधानमंत्री साहब का जो पत्र आया है, वह अंग्रेजी में है। इंदौर की प्रजा यह बात नहीं जानती होगी, पर मैं उसे बतलाता हूं कि यहां अदालतों में प्रजा की अर्जियां हिन्दी में ली जाती हैं, पर न्यायाधीशों के फैसले और वकील-बैरिस्टरों की बहस अंग्रेजी में होती है। मैं पूछता हूं कि इंदौर में ऐसा क्यों होता है? हां, मैं यह मानता हूं कि अंग्रेजी राज्य में यह आंदोलन सफल नहीं हो सकता। यह ठीक है पर देशी राज्यों में तो सफल होना ही चाहिए। शिक्षित-वर्ग, जैसा कि माननीय पंडित जी ने अपने पत्र में दिखाया है, अंग्रेजी के मोह में फंस गया है और अपनी राष्ट्रीय मातृभाषा से उसे असंतोष हो गया है। पहली माता (अंग्रेजी) से हमें जो दूध मिल रहा है, उसमें जहर और पानी मिला हुआ है और दूसरी माता (मातृभाषा) से शुद्ध दूध मिल सकता है। बिना इस शुद्ध दूध के मिले हमारी उन्नति होना असंभव है। पर जो अंधा है, वह देख नहीं सकता। गुलाम यह नहीं जानता कि अपनी बेड़ियां किस तरह तोड़े। पचास वर्षों से हम अंग्रेजी के मोह में फंसे हैं। हमारी प्रजा अज्ञान में डूबी रही है। सम्मेलन की ओर विशेष रूप से ख्याल रखना चाहिए। हमें ऐसा उद्योग करना चाहिए कि एक वर्ष में राजकीय सभाओं में, कांग्रेस में प्रांतीय भाषाओं में अन्य सभा-समाज और सम्मेलनों में अंग्रेजी का एक भी शब्द सुनाई न पड़े। हम अंग्रेजी का व्यवहार बिल्कुल त्याग दें अंग्रेजी सर्वव्यापक भाषा है, पर यदि अंग्रेज सर्वव्यापक न रहेगे तो अंग्रेजी भी सर्वव्यापक न रहेगी। हमें अब अपनी मातृभाषा की ओर उपेक्षा करके उसकी हत्या नहीं करनी चाहिए। जैसे अंग्रेज अपनी मादरी जबान अंग्रेजी में ही बोलते हैं और सर्वथा उसे ही व्यवहार में लाते हैं। वैसे ही मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनने का गौरव प्राप्त करें। हिन्दी सब समझते हैं। इसे राष्ट्रभाषा बनाकर हमें अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। अब मैं अपना लिखा हुआ भाषण पढ़ता हूं।

श्रीमान सभापति महाशय, प्यारे प्रतिनिधिगण, बहनों और भाईयो,

आपने मुझे इस सम्मेलन का सभापतित्व देकर कृतार्थ किया है। हिन्दी साहित्य की दृष्टि से मेरी योग्यता इस स्थान के लिए कुछ भी नहीं है। यह मैं खूब जानता हूं। मेरा हिन्दी भाषा का असीम प्रेम ही मुझे यह स्थान दिलाने का कारण हो सकता है। मैं उम्मीद करता हूं कि प्रेम की परीक्षा में हमेशा उत्तीर्ण होऊंगा।

साहित्य का प्रदेश भाषा की भूमि जानने पर ही निश्चित हो सकता है। यदि हिन्दी भाषा की भूमि सिर्फ उत्तर प्रांत की होगी,

तो साहित्य का प्रदेश संकुचित रहेगा। यदि हिन्दी भाषा राष्ट्रीय भाषा होगी, तो साहित्य का विस्तार भी राष्ट्रीय होगा। जैसे भाषक वैसी भाषा। भाषा-सागर में स्नान करने के लिए पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर से पुनीत महात्मा आएंगे, तो सागर का महत्व स्नान करने वालों के अनुरूप होना चाहिए। इसलिए साहित्य की दृष्टि भी हिन्दी भाषा का स्थान विचारणीय है।

हिन्दी भाषा की व्याख्या का थोड़ा-सा ख्याल करना आवश्यक है। मैं कई बार व्याख्या कर चूका हूं कि हिदी भाषा वह भाषा है, जिसको उत्तर में हिन्दू व मुसलमान बोलते हैं और जो नागरी अथवा फारसी लिपी में लिखी जाती है। यह हिन्दी एकदम संस्कृतमयी नहीं है, न वह एकदम फारसी शब्दों से लदी हुई है। देहाती बोली में जो माधुर्य मैं देखता हूं, वह न लखनऊ के मुसलमान भाइयों की बोली में और न प्रयाग के पंडितों की बोली में पाया जाता है। भाषा वही श्रेष्ठ है, जिसको जनसमूह सहज में समझ ले। देहाती बोली सब समझते हैं। भाषा का मूल करोड़ों मनुष्यरूपी हिमालय में मिलेगा और उसमें ही रहेगा। हिमालय में से निकली हुई गंगाजी अनंतकाल तक बहती रहेगी। ऐसा ही देहाती हिन्दी का गौरव रहेगा। और जैसे ही छोटी-सी पहाड़ी से निकला हुआ झरना सूख

भाषा की गुलामी

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के रजत जयंती समारोह के अवसर पर 21 जनवरी 1942 को महात्मा गांधी के भाषण का अंश

मैं जो कुछ कहूंगा मुमकिन है, वह आपको अच्छा न लगे। उसके लिए आप मुझे माफ कीजिएगा। यहां आकर जो कुछ मैंने देखा और देखकर मेरे मन में जो जो चीज पैदा हुई, वह शायद आपको चुभेगी। मेरा ख्याल था कि कम से कम यहां तो सारी कार्रवाई अंग्रेजी में नहीं, बल्कि राष्ट्रभाषा में ही होगी। मैं यहां बैठा यही इंतजार कर रहा था कि कोई न कोई तो आखिर हिन्दी या उर्दू में कुछ कहेगा। हिन्दी, उर्दू न सही, कम से कम मराठी या संस्कृत में ही कोई कुछ कहता। लेकिन मेरी सब आशाएं निष्फल हुईं।

अंग्रेजों को हम गालियां देते हैं कि उन्होंने हिन्दुस्तान को गुलाम बना रखा हे, लेकिन अंग्रेजी के तो हम खुद ही गुलाम बन गए हैं। अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को काफी पामाल किया है। इसके लिए मैने उनकी कड़ी से कड़ी टीका भी की है, परन्तु अंग्रेजी की अपनी इस गुलामी के लिए मैं उनको जिम्मेदार नहीं समझता। खुद अंग्रेजी सीखने और अपने बच्चों को अंग्रेजी सिखाने के लिए हम कितनी-कितनी मेहनत करते हैं। अगर कोई हमें कह देता है कि हम अंग्रेजों की तरह अंग्रेजी बोल लेते है। तो मारे खुशी के फूले नहीं समाते। इससे बढ़कर दयनीय गुलामी और क्या हो सकती है? इसकी वजह से हमारे बच्चों पर कितना जुल्म होता है? अंग्रेजों के प्रति हमारे इस मोह के कारण देश की कितनी शक्ति और कितना श्रम बरबाद होता है।...

जापान के लड़कों और लड़कियों ने जो कुछ पाया है, अपनी मातृभाषा जापानी के जरिए ही पाया है। अंग्रेंजी के जरिए नहीं। जापानी लिपि बड़ी कठिन है। फिर भी जापानियों ने रोमन लिपि को कभी नहीं अपनाया। उनकी सारी तालीम जापानी लिपि और जापानी जबान के जरिए ही होती है। जो चुने हुए जापानी पश्चिमी देशों में खास किस्म की तालीम के लिए भेजे जाते है।, वे भी जब आवश्यक ज्ञान पाकर लौटते है। तो अपना सारा ज्ञान अपने देशवासियों को जापानी भाषा के जरिए ही देते हैं। अगर वे ऐसा न करते और देश में आकर दूसरे देशों के जैसे स्कूल और कालेज अपने यहां भी बना लेते और अपनी भाषा को तिलांजलि देकर अगर अंग्रेजी में सब कुछ पढ़ाने लगते तो उससे बढ़कर बेवकूफी और क्या होती? इस तरीके से जापान वाले नई भाषा तो सीखते, लेकिन नया ज्ञान न सीख पाते। हिन्दुस्तान में तो आज हमारी महत्वाकांक्षा ही यह रहती है कि हमें किसी तरह कोई सरकारी नौकरी मिल जाए, या हम वकील, बैरिस्टर, जज वगैरा बन जाएं। अंग्रेजी सीखने में हम बरसों बिता देते हैं, तो भी सर राधाकृष्णन या मालवीयजी महाराज के समान अंग्रेजी जानने वाले हमने कितने पैदा किए हैं? आखिर वह एक पराई भाषा ही है न? इतनी कोशिश करने पर भी हम उसे अच्छी तरह सीख नहीं पाते।

किसी नई लिपि या जबान को सीखने से हम घबराते हैं, जबकि सच तो यह है कि हिन्दुस्तान की किसी जुबान या लिपि को सीखना, हमारे लिए बाएं हाथ का खेल होना चाहिए। जिसे हिन्दी या हिन्दुस्तानी आती है, उसे मराठी या हिन्दुस्तानी आती है, उसे मराठी, गुजराती, बंगाली वगैरा सीखने में तकलीफ ही क्या हो सकती है। कन्नड़, तमिल, तेलगू और मलयालम का भी मेरा यही तजुर्बा है। इनमें भी संस्कृत के और संस्कृत से निकले हुए काफी शब्द भरे पड़े हैं। जब इसमें अपनी मादरी जबान के लिए सच्ची मौहब्बत पैदा हो जाएगी, तो हम इन तमाम भाषाओं को बड़ी आसानी से सीख सकेंगे। रही बात उर्दू की, सो वह भी आसानी के साथ सीखी जा सकती है। लेकिन बदकिस्मती से उर्दू के आलिम यानी विद्वान इधर उसमें अरबी और फारसी के शब्द ठूंस-ठूंस कर भरने लगे हैं- उसी तरह, जिस तरह हिन्दी के विद्वान हिन्दी में संस्कृत शब्द भर रहे हैं। नतीजा उसका यह होता है कि जब मुझ जैसे आदमी के सामने कोई लखनवी तर्ज की उर्दू बोलने लगता है तो सिवा बोलने वाले का मुंह ताकने के और कोई चारा नहीं रह जाता।

जाता है, वैसे ही संस्कृतमयी तथा फारसीमयी हिन्दी की दशा होगी।

हिन्दू-मुसलमानों के बीच जो भेद किया जाता है, वह कृत्रिम है। ऐसी ही कृत्रिमता हिन्दी व उर्दू भाषा के भेद में है। हिन्दुओं की बोली से फारसी शब्दों का सर्वथा त्याग और मुसलमानों की बोली से संस्कृत का सर्वथा त्याग अनावश्यक है। दोनों का स्वाभाविक संगम गंगा-जमुना के संगम सा शोभित और अचल रहेगा। मुझे उम्मीद है कि हम हिन्दी-उर्दू झगड़े में पड़कर अपना बल क्षीण नहीं करेंगे। लिपी की कुछ तकलीफ जरूर है। मुसलमान भाई अरबी लिपि में ही लिखेंगे, हिन्दु बहुत करके नागरी लिपि में लिखेंगे। राष्ट्र में दोनों को स्थान मिलना चाहिए। अमलदारों को दोनों लिपियों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। इसमें कुछ कठिनाई नहीं है। अंत में जिस लिपि में ज्यादा सरलता होगी, उसकी विजय होगी। भारतवर्ष में परस्पर व्यवहार के लिए एक भाषा होनी चाहिए, इसमें कुछ संदेह नहीं है। यदि हम हिन्दी-उर्दू का झगड़ा भूल जाएं, तो हम जानते हैं कि मुसलमान भाइयों की तो उर्दू ही राष्ट्रीय भाषा है। इस बात से यह सहज में ही सिद्ध हो जाता है कि हिन्दी या उर्दू मुगलों के जमाने से राष्ट्रीय भाषा बनती जाती थी।

आज भी हिन्दी में स्पर्धा करने वाली दूसरी कोई भाषा नहीं है। हिदी-उर्दू का झगड़ा छोड़ने से राष्ट्रीय भाषा का सवाल सरल हो जाता है। हिन्दुओं को फारसी शब्द थोड़े-बहुत जानने पड़ेंगे। इस्लामी भाइयों को संस्कृत शब्दों का ज्ञान सम्पादन करना पड़ेगा। ऐसे लेन-देन से इस्लामी भाषा का बल बढ़ जाएगा और हिन्दू-मुसलमानों की एकता का एक बड़ा साधन हमारे हाथ में आ जाएगा। अंग्रेजी भाषा का मोह दूर करने के लिए इतना अधिक परिश्रम करना पड़ेगा कि हमें लाजिमी है कि हम हिन्दी-उर्दू झगड़ा न उठावें लिपि की तकरार भी हमको नहीं करनी चाहिए।

अंग्रेजी भाषा राष्ट्रीय भाषा क्यों नहीं हो सकती, अंग्रेजी भाषा का बोझ प्रजा के ऊपर रखने से क्या हानि होती है। हमारी शिक्षा का माध्यम आज तक अंग्रेजी होने से प्रजा कैसे कुचल दी गई है, हमारी जातीय भाषा क्यों कंगाल हो रही है, इन सब बातों पर मैं अपनी राय भागलपुर और भड़ौच के व्याख्यानों में दे चुका हूं। इसीलिए यहां मैं फिर नहीं देना चाहता। हकीकत में, इस बात में संदेह नहीं हो सकता कि हमारे कविवर सर रवींद्रनाथ टैगोर, विदुषी एनीबेसेंट, लोकमान्य तिलक और अन्यायन्य प्रतिष्ठित और आप्त व्यक्तियों का मंतव्य इस विषय में ऐसा ही है। कार्य की सिद्धि में कठिनाइयां तो होंगी ही, किन्तु उसका उपाय करना इस सभा पर निर्भर है। लोकमान्य तिलक महाराज ने अपना अभिप्राय कार्य करके बना दिया है। उन्होंने केसरी और मराठा में हिन्दी विभाग शुरू कर दिया है। भारत रत्न पंडित मदनमोहन मालवीयजी का अभिप्राय भी हिन्दुस्तान में अज्ञान नहीं है तो भी हमें मालूम है कि हमारे कई विद्वान नेताओं का अभिप्राय है कि कुछ वर्षों तक तो एक अंग्रेजी ही राष्ट्रीय भाषा रहेगी। इन नेताओं को हम विनयपूर्वक कहेंगे कि अंग्रेजी के इस मोह से प्रजा पीड़ित हो रही है। अंग्रेजी भाषा पाने वालों के ज्ञान का लाभ प्रजा को बहुत ही कम मिलता है और अंग्रेजी शिक्षित-वर्ग और आम लोगों के बीच बड़ा दरियाव आ पड़ा है।

कहना आवश्यक नहीं कि मैं अंग्रेजी भाषा से द्वेष नहीं करता हूं। अंग्रेजी साहित्य-भंडार से मैंने भी बहुत रत्नों का उपयोग किया है। अंग्रेजी भाषा की मार्फत हमें विज्ञान आदि का खूब ज्ञान लेना है। अंग्रेजी का ज्ञान भारतवासियों के लिए बहुत आवश्यक है। लेकिन इस भाषा को उसका उचित स्थान देना एक बात है, उसकी जड़ पूजा करना दूसरी बात है।

हिन्दी-उर्दू राष्ट्रीय भाषा होनी चाहिए, इस बात को सिर्फ स्वीकार करने से हमारा मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता है। तो फिर किस प्रकार हम सिद्धि पा सकेंगे? जिन विद्वानों ने इस मंडप को सुशोभित किया है, वे भी अपनी वक्तृता से हमको इस विषय में जरूर कुछ सुनाएंगे। मैं सिर्फ भाषा-प्रचार के बारे में कुछ कहूंगा। भाषा प्रचार के लिए हिन्दी शिक्षक होना चाहिए। हिन्दी-बंगाली सीखने वालों के लिए एक छोटी सी पुस्तक मैंने देखी है। वैसी मराठी में भी है। अन्य भाषा-भाषियों के लिए ऐसी किताबें देखने में नहीं आई हैं। यह काम करना जैसे सरल है, वैसा ही आवश्यक है। मुझे उम्मीद है कि यह सम्मेलन इस कार्य को शीघ्रता से अपने हाथ में लेगा। ऐसी पुस्तकें विद्वान और अनुभवी लेखकों के द्वारा लिखवानी चाहिएं।

सबसे कष्टदायी मामला द्रविड़ भाषाओं के लिए है। वहां तो कुछ प्रयत्न ही नहीं हुआ। हिन्दी भाषा सिखाने वाले शिक्षकों की बड़ी ही कमी है। ऐसे एक शिक्षक प्रयाग से आपके लोकप्रिय मंत्री भाई पुरुषोतम दास जी टंडन के द्वारा मुझे मिले हैं।

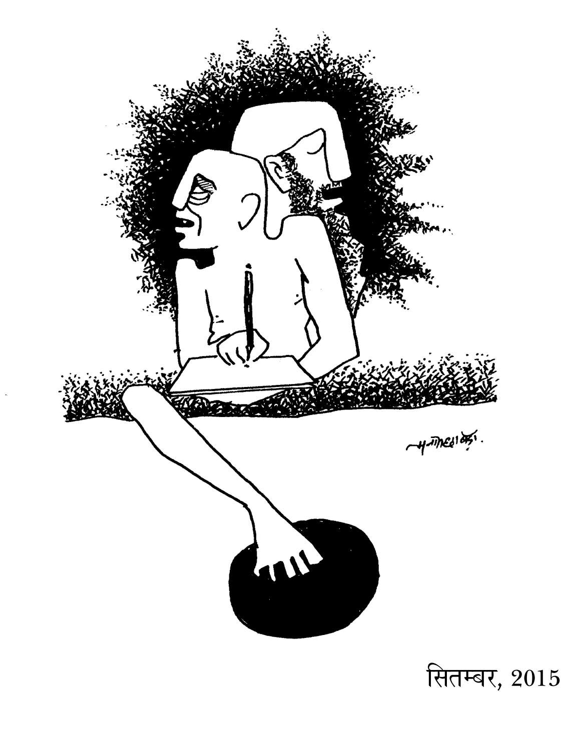

हिन्दी भाषा का एक भी सम्पूर्ण व्याकरण मेरे देखने में नहीं आया। जो है सो अंग्रेजी में विलायती पादरियों के बनाए हुए हैं। ऐसा एक व्याकरण डा. केलॉग का रचा हुआ है। हिन्दुस्तान की की अन्यान्य भाषाओं का मुकाबला करने वाला व्याकरण हमारी भाषा में होना चाहिए। हिन्दी प्रेमी विद्वानों से मेरी नम्र विनती है कि वे इस त्रुटि को दूर करें। कार्यकर्ताओं और प्रतिनिधियों द्वारा यह प्रयत्न होना चाहिए। मेरा अभिप्राय है कि यह सभा ऐसी प्रार्थना आगामी कांग्रेस में उसके कर्मचारियों के सम्मुख उपस्थित करे।

हमारी कानूनी सभाओं में भी राष्ट्रीय भाषा द्वारा कार्य चलना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक प्रजा की राजनीतिक कार्यों में ठीक तालीम नहीं मिलती है। हमारी हिन्दी अखबार इस कार्य को थोड़ा-सा करते तो हैं, लेकिन प्रजा को तालीम अनुवाद से नहीं मिल सकती है। हमारी अदालतों में जरूर राष्ट्रीय भाषा और प्रांतीय भाषा का प्रचार होना चाहिए। न्यायाधीशों की मार्फत जो तालीम हमको सहज ही मिल सकती है। उस तालीम से आज प्रजा वंचित रहती है।

भाषा की जैसी सेवा हमारे राजा-महाराजा लोग कर सकते हैं, वैसी अंग्रेज सरकार नहीं कर सकती। महाराजा होल्कर की कौंसिल में, कचहरी में हर एक काम में हिन्दी का और प्रांतीय बोली का ही प्रयोग चाहिए। उनके उत्तेजन से भाषा और बहुत ही बढ़ सकती है। इस राज्य की पाठशालाओं में शुरू से ही आखिर तक सब तालीम मादरी जबान में देने का प्रयोग होना चाहिए। हमारे राजा-महाराजाओं से भाषा की बड़ी-भारी सेवा हो सकती है। मैं उम्मीद रखता हूं कि होल्कर महाराजा और उनके अधिकारी वर्ग इस महान कार्य को उत्साह से उठा लेंगे। ऐसे सम्मेलन से हमारा सब कार्य सफल होगा, ऐसी समझ भ्रम ही है। जब हम प्रतिदिन इसी कार्य की धुन में लगे रहेंगे, तभी इस कार्य की सिद्धि हो सकेगी। सैंकड़ों स्वार्थत्यागी विद्वान जब इस कार्य को अपनाएंगे, तभी सिद्धि संभव है।

मुझे खेद तो यह है कि जिन प्रांतों की मातृभाषा हिन्दी है, वहां भी उस भाषा की उन्नति करने का उत्साह दिखाई नहीं देता। उन प्रांतों से हमारे शिक्षित वर्ग में आपस में पत्र-व्यवहार और बातचीत अंग्रेजी में करते हैं। एक भाई लिखते हैं कि हमारे अखबार चलाने वाले अपना व्यवहार अंग्रेजी की मार्फत करते हैं। अपने हिसाब-किताब वे अंग्रेजी में ही रखते हैं। फ्रांस में रहने वाले अंग्रेज अपना सब व्यवहार अंग्रेजी में रखते हैं। हम अपने देश में महत कार्य विदेशी भाषा में करते हैं। मेरा नम्र लेकिन दृढ़ अभिप्राय है कि जब तक हम हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय और अपनी-अपनी प्रांतीय भाषाओं को उनका योग्य स्थान नहीं देते, तब तक स्वराज्य की सब बातें निरर्थक हैं। इस सम्मेलन द्वारा भारतवर्ष के इस बड़े प्रश्न का निराकरण हो जाए, ऐसी मेरी आशा है और प्रभु के प्रति प्रार्थना है। (गांधी वांग्मय से साभार)

विरासत

लोहिया के विचार हिन्दी के संदर्भ में

-डॉ लोहिया

● अंग्रेजी हिन्दुस्तान को ज्यादा नुकसान इसलिए नहीं पहुंचा रही है कि वह विदेशी है, बल्कि इसलिए कि भारतीय प्रसंग में वह सामन्ती है। आबादी का सिर्फ एक प्रतिशत छोटा-सा अल्पमत ही अंग्रेजी में ऐसी योग्यता हासिल कर पाता है, कि वह उसे सत्ता या स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करता है। इस छोटे से अल्पमत के हाथ में विशाल जन-सम्प्रदाय पर अधिकार और शोषण करने का हथियार है अंग्रेजी।

● अंग्रेजी अपने क्षेत्र में लावण्यमयी भाषा है, फ्रेंच जितनी चटपटी नहीं, न ही जर्मन जितनी गहरी, पर ज्यादा परिमित, परिग्राही और उदार है। अब हम 'अंग्रेजी हटाओ' कहते हैं, तो हम यह बिल्कुल नहीं चाहते कि उसे इंग्लिस्तान या अमरीका से हटाया जाय और न ही हिन्दुस्तानी कालिजों से, बशर्ते कि वह ऐच्छिक विषय हो। पुस्तकालयों से उसे हटाने का सवाल तो उठता ही नहीं।

● कोई एक हजार बरस पहले हिन्दुस्तान में मौलिक चिंतन समाप्त हो गया, अब तक उसे पुनः जीवित नहीं किया जा रहा है। इसका एक बड़ा कारण है अंग्रेजी की जकड़न। अगर कुछ अच्छे वैज्ञानिक, वह भी बहुत कम और सचमुच बहुत बड़े नहीं, हाल के दशकों में पैदा हो हुए हैं, तो इसलिए कि वैज्ञानिकों का भाषा से उतना वास्ता नहीं पड़ता जितना कि संख्या और प्रतीक से पड़ता है। सामाजिक शास्त्रों और दर्शन में तो बिल्कुल शून्य है। मेरा मतलब उनके विवरणात्मक अंग से नहीं बल्कि उनके आधार से है। भारतीय विद्वान जितना समय चिन्तन की गहराई और विन्यास में लगाते हैं, तो अगर ज्यादा नहीं तो कम से कम उतना ही समय उच्चारण, मुहावरे और लच्छेदारी में लगा देते हैं। यह तथ्य उस शून्य का कारण है। मंच पर क्षण भंगुर गर्व के साथ चौकड़ियाँ भरने वाले स्कूली विद्याथी से लेकर विद्वान तक के ज्ञान को अभिशाप लग गया है। भारतीय चिन्तन का अभिप्रेत विषय ज्ञान नहीं, बल्कि मुहावरेदारी और लच्छेदारी बन गया है।

● उद्योगीकरण करने के लिए, हिन्दुस्तान को 10 लाख इंजीनियरों और वैज्ञानिकों और 1 करोड़ मिस्त्रियों और कारीगरों की फौज की जरूरत है। जो यह सोचता है कि यह फौज अंग्रेजी के माध्यम से बनाई जा सकती है, वह या तो धूर्त है या मूर्ख। उद्योगीकरण के क्षेत्र में जापान और चीन या रुमानिया ने जो इतनी प्रगति की है, उनके अच्छे आर्थिक इंतजाम के जितना ही बड़ा कारण यह भी है कि उन्होंने जन-भाषा के द्वारा ही अपना सब काम किया। केवल व्यक्ति के लिए नहीं, बल्कि समाज के लिए भी मन और पेट का एक दूसरे पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। किसी देश के मन को साथ ही साथ ठीक करने की कोशिश किए बिना कोई उसके पेट या आर्थिक व्यवस्था को ठीक नहीं कर सकता।

● हिन्दुस्तानी के दुश्मन वास्तव में बांग्ला, तमिल या मराठी के भी दुश्मन है। अपने वर्चस्व और शोषण को कायम रखने के लिए जिसने उच्च वर्गों की छटपटाहट देखी है, उसको पिछले दशक से यह बात बिल्कुल साफ नजर आती है। जो लोग प्रान्तीयता के स्पष्ट पर खतरनाक नारे लगाते हैं, ठीक उन्हीं लोगों ने बंगाल के कालिजों में बांग्ला को माध्यम बनाने के प्रयत्न पर हल्ला मचाया। मैने बिल्कुल साफ तौर पर यह बतलाने की कोशिश की है कि 'अंग्रेजी हटाओ' का मतलब हिन्दी लाओ नहीं होता। अंग्रेजी हटाने का मतलब होता है तमिल या बांग्ला और इसी तरह अपनी-अपनी भाषाओं की प्रतिष्ठा।

● विधायिकाओं के द्वारा सार्वजनिक इस्तेमाल से अंग्रेजी का हटाना अब मुमकिन नहीं है। यह तो सिर्फ जनता की क्रियाशीलता के द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि धारणाएं जम गयी हैं। जहाँ तक जन-आन्दोलन का सम्बन्ध है, तट सूबों और मध्य सूबों के बीच का फर्क बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। तट सूबों के उच्च वर्ग हिन्दी साम्राज्यवाद के नारे से अपने लोगों को धोखा दे सकते हैं। मध्य सूबों के उच्च वर्ग खुलकर ऐसा नहीं कर सकते और इसीलिए मध्य सूबों में मुख्य रूप से हमला करना चाहिए। मध्य सूबों की जनता को न सिर्फ सूबाई स्तर पर, बल्कि जहाँ तक उनके अपने इलाकों का सवाल है, केन्द्रीय स्तर पर भी जैसे फौज, रेलवे, तार इत्यादि से अंग्रेजी हटाने के लिए आन्दोलन और लड़ाई करनी चाहिए। केन्द्रीय काम काज के लिए दो विभाग बनाये जा सकते हैं, एक हिन्दी का और दूसरा अंग्रेजी का। जिन तट सूबों की इच्छा हो, वे दिल्ली में अपने आप का अंग्रेजी विभाग से सम्बद्ध कर सकते है। दिल्ली में मध्य सूबों को तत्काल हिन्दी विभाग के जरिये काम करना चहिए अगर गुजरात और महाराष्ट्र और दूसरा कोई राज्य हिन्दुस्तानी विभाग से सम्बद्ध होना चाहता है तो उनकी इच्छानुसार नौकरियों इत्यादि में सुरक्षा देते हुए उनका साभार स्वागत करना चाहिए।

● हिन्दी प्रचारकों और अधिकांश हिन्दी लेखकों का तो किस्सा ही अलग है। वे सरकारी नीति से इतने गूँथे हुए हैं कि वे उसके वकील बन जाते हैं, देखने में तो कम से कम ऐसा लगता है। इनमें से अधिकांश को सरकार से या अर्ध-सरकारी संस्थाओं से पैसा मिलता है। इनमें से ज्यादा सचेत व्यक्ति चुप रह जाते है। इन हिन्दी प्रचारकों और लेखकों में से बहुत बड़ी संख्या उनकी है जो हिन्दी की वंचक जबानी सेवा करके उसे जबरदस्त तिहरा नुकसान पहुँचाते है। अंग्रेजी को विध्वंसात्मक आन्दोलन के द्वारा खतम करने की बात के बजाय वे रचनात्मक काम की दुहाई देते हैं, इस आशा में कि धीरे-धीरे हिन्दी को अंग्रेजी की जगह मिल जायेगी। वे हिन्दी को अंग्रेजी के साथ रखकर सन्तुष्ट हो जाते हैं, अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन की वे निन्दा करते हैं कि वह नकारात्मक है।

● सबसे बुरा तो यह है कि अंग्रेजी के कारण भारतीय जनता अपने को हीन समझती है। वह अंग्रेजी नहीं समझती इसलिए सोचती है कि वह किसी भी सार्वजनिक काम के लायक नहीं है और मैदान छोड़ देती है। जनसाधारण द्वारा इस तरह मैदान छोड़ देने के कारण ही अल्पमत या सामन्ती राज्य की बुनियाद पड़ी। सिर्फ बन्दूक के जरिये नहीं, बल्कि ज्यादा तो गिटपिट भाषा के जरिए लोगों को दबा रखा जाता है। लोकभाषा के बिना लोकराज्य असम्भव है। कुछ लोग यह गलत योग्यता हासिल कर सकते हैं।

● अंग्रेजी हटनी चाहिए। जनता के कर्मठता से ही वह हट सकती है। जनता को धोखा देने की उच्चवर्गो की ताकत तो बढ़ ही रही है। जब ऐसी नासमझी जड़ हो जाती है, तो वैधानिक हल आसान नहीं होते और सिर्फ जनता की कर्मठता और त्याग से ही मत-परिवर्तन हो सकता है। अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाने वाले अध्यापक को बोलने न देने से लेकर विशेषतः सरकारी नाम पटों को मिटाने तक के ऐसे अनेक काम जनता कर सकती है। थोड़े लोगों ने ऐसे कुछ काम किए भी हैं, ऐसे और काम करना जरूरी है।

देसिल बयना सब जन मिट्ठा।
ते तैसन जम्पओ अवहट्टा।।
(देसी भाषा सबको मीठी लगती है यही जानकर मैंने अवहट्ट में रचना की है)
-मैथिल कोकिल विद्यापति

कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार

-मुंशी प्रेमचंद

(बंबई के राष्ट्रभाषा सम्मेलन में स्वागताध्यक्ष की हैसियत से 27 अक्तूबर 1934 को दिया गया भाषण)

बहनों और भाइयों,

किसी कौम के जीवन और उसकी तरक्की में भाषा का कितना बड़ा हाथ है, इसे हम सब जानते हैं और उसकी तशरीह करना आप जैसे विद्वानों की तौहीन करना है। यह दो पैरों वाला जीव उसी वक्त आदमी बना, जब उसने बोलना सीखा। यों तो सभी जीवधारियों की एक भाषा होती है। वह उसी भाषा में अपनी खुशी और रंज, अपना क्रोध और भय, अपनी हां या नहीं बतला दिया करता है। कितने ही जीव तो केवल इशारों में ही अपने दिल का हाल और स्वभाव जाहिर करते हैं। यह दर्जा आदमी ही को हासिल है कि वह अपने मन के भाव और विचार सफाई और बारीकी से ब्यान करे। समाज कर बुनियाद भाषा है। भाषा के बगैर किसी समाज का ख्याल भी नहीं किया जा सकता। किसी स्थान की जलवायु, उसके नदी और पहाड़, उसकी सर्दी और गर्मी और अन्य मौसमी हालतें सब मिल-जुल कर वहां के जीवों में एक विशेष आत्मा का विकास करती हैं, जो प्राणियों की शक्ल सूरत, व्यवहार, विचार और स्वभाव पर अपनी छाप लगा देती हैं और अपने व्यक्त करने के लिए एक विशेष भाषा या बोली का निर्माण करती है। इस तरह हमारी भाषा का सीधा संबंध हमारी आत्मा से है। यों कह सकते हैं कि भाषा हमारी आत्मा का बाहरी रूप है। वह हमारी शक्ल सूरत, हमारे रंग रूप की ही भांति हमारी आत्मा से निकलती है। इसके एक-एक अक्षर में हमारी आत्मा का विकास होता है, हमारी भाषा भी प्रौढ़ और पुष्ट होती जाती है। आदि में जो लोग इशारों में बात करते थे, फिर अक्षरों में अपने भाव प्रकट करने लगे, वही लोग फिलासफी लिखते और शायरी करते हैं और जब जमाना बदल जाता हैं और हम उस जगह से निकल कर दुनिया के दूसरे हिस्सों में आबाद हो जाते हैं, हमारा रंग-रूप भी बदल जाता है। फिर भाषा सदियों तक हमारा साथ देती रहती है और जितने लोग हम जबान हैं, उनमें एक अपनापन, एक आत्मीयता, एक निकटता का भाव जगाती रहती है। मनुष्य में मेल-मिलाप के जितने साधन हैं, उनमें सबसे मजबूत, असर डालनेवाला रिश्ता भाषा का है। राजनीतिक, व्यापारिक या धार्मिक नाते जल्द या देर में कमजोर पड़ सकते हैं और अक्सर टूट जाते हैं, लेकिन भाषा का रिश्ता समय की और दूसरी बिखेरनेवाली शक्तियों की परवाह नहीं करता और एक तरह से अमर हो जाता है।

लेकिन आदि में मनुष्यों के जैसे छोटे-छोटे समूह होते हैं, वेसी ही छोटी-छोटी भाषाएं भी होती हैं। अगर गौर से देखिए, तो बीस-पचीस कोस के अंदर ही भाषाओं में कुछ न कुछ फर्क हो जाता है। कानपुर और झांसी की सरहदें मिली हुई हैं। केवल एक नदी का अंतर है, लेकिन नदी की उत्तर तरफ कानपुर में जो भाषा बोली जाती है, उसमें और नदी की दक्षिण तरफ की भाषा में साफ-साफ फर्क नज़र आता है। सिर्फ प्रयाग में कम से कम दस तरह की भाषाएं बोली जाती हैं, लेकिन जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है, यह स्थानीय भाषाएं किसी सूबे की भाषा में जा मिलती हैं और सूबे की भाषा एक सार्वदेशिक भाषा का अंग बन जाती है। हिन्दी ही में ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी, अवधी, मैथिली, भोजपुरी आदि भिन्न-भिन्न शाखाएं हैं, लेकिन जैसे छोटी-छोटी धाराओं के मिल जाने से एक बड़ा दरिया बन जाता है, जिसमें मिलकर नदियां अपने को खो देती हैं, उसी तरह ये सभी प्रांतीय भाषाएं हिन्दी की मातहत हो गई हैं और आज उत्तर भारत का एक देहाती भी हिन्दी समझता है और अवसर पड़ने पर बोलता है। लेकिन हमारे मुल्की फैलाव के साथ हमें एक ऐसी भाषा की जरूरत पड़ गई है, जो सारे हिन्दुस्तान में समझी और बोली जाए, जिसे हम हिन्दी या गुजराती या मराठी या उर्दू न कहकर हिन्दुस्तानी भाषा कह सकें, जिसे हिन्दुस्तान का पढ़ा-बे-पढ़ा आदमी उसी तरह समझें या बोले, जैसे हर एक अंग्रेज या जर्मन या फ्रांसीसी फ्रेंच या जर्मन या अंग्रेजी भाषा बोलता और समझता है। हम सूबे की भाषाओं के विरोधी नहीं हैं। आप उनमें जितनी उन्नति कर सकें, करें, लेकिन एक कौमी भाषा का मरकज़ी सहारा लिए बगैर आपके राष्ट्र की जड़ कभी मजबूत नहीं हो सकती। हमें रंज के साथ कहना पड़ रहा है कि जब तक हमने कौमी भाषा की ओर जिनता ध्यान देना चाहिए, उतना नहीं दिया है। हमारे पूज्य नेता सब के सब

ऐसी जबान की जरूरत को मानते हैं, लेकिन अभी तक उनका ध्यान खासतौर पर इस विषय की ओर नहीं आया। हम ऐसा राष्ट्र बनाने का स्वप्न देख रहे हैं जिसकी बुनियाद इस वक्त सिर्फ अंग्रेजी हकूमत है। इस बालू की बुनियाद पर हमारी कौमियत का मीनार खड़ा किया जा रहा है और अगर हमने कौमियत की सबसे बड़ी शर्तें, यानि कौमी जबान की तरफ से लापरवाही की, तो इसका अर्थ यह होगा कि आपकी कौम को जिंदा रखने के लिए अंग्रेजी की मरकज़ी हुकूमत का कायम रहना लाजिम होगा वरना कोई मिलाने वाली ताकत न होने के कारण हम सब बिखर जाएंगे और प्रांतीयता जोर पकड़ कर राष्ट्र का गला घोंट देगी और जिस बिखरी हुई दशा में हम अंग्रेजों के आने के पहले थे, उसी में फिर लौट जाएंगे।

इस लापरवाही का खास सबब है-अंग्रेजी जबान का बढ़ता हुआ प्रचार और हममें आत्म सम्मान की वह कमी, जो गुलामी की शर्म को नहीं महसूस करती। यह दुरूस्त है कि आज भारत की दफ्तरी जबान अंग्रेजी है और भारत की जनता पर शासन करने में अंग्रेजों का हाथ बंटाने के लिए हमारा अंग्रेजी जानना जरूरी है। इल्म और हुनर और ख्यालात में जो इन्कलाब होते रहते है। उनमें वाकिफ़ होने के लिए भी अंग्रेजी जबान सीखना लाजिमी हो गया है। जाति शोहरत और तरक्की की सारी कुंजियां अंग्रेजी के हाथ में हैं और कोई भी इस खजाने को नाचीज नहीं समझ सकता। दुनियाकी तहजीबी या सांस्कृतिक बिरादरी में मिलने के लिए अंग्रेजी ही हमारे लिए एक दरवाजा है और उसकी तरफ से हम आंख नहीं बंद कर सकते। लेकिन हम दौलत और अख्तियार की दौड़ में और बेतहाशा दौड़ में कौमी भाषा की ज़रूरत बिल्कुल भूल गए और उस जरूरत की याद कौन दिलाता? आपस में तो अंग्रेजी का व्यवहार था ही, जनता से ज्यादा सरोकार था ही नहीं, और अपनी प्रांतीय भाषा से सारी जरूरतें पूरी हो जाती थीं। कौमी भाषा का स्थान अंग्रेजी ने ले लिया और उसी स्थान पर विराजमान है। अंग्रेजी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का, हमारे ऊपर जैसा आंतक है, उससे कहीं ज्यादा अंग्रेजी भाषा का है। अंग्रेजी राजनीति से, व्यापार से, साम्राज्यवाद से तो आप बगावत करते हैं, लेकिन अंग्रेजी भाषा को आप गुलामी के तौक की तरह गर्दन में डाले हुए हैं। अंग्रेजी राज्य की जगह आप स्वराज्य चाहते हैं उनके व्यापार की जगह अपना व्यापार चाहते हैं। लेकिन अंग्रेजी भाषा का सिक्का हमारे दिलों पर बैठ गया है। उसके बगैर हमारा पढ़ा-लिखा समाज अनाथ हो जाएगा। पुराने समय में आर्य और अनार्य का भेद था, आज अंग्रेजीदां और गैर अंग्रेजीदां का भेद है। अंग्रेजीदां आर्य है। उसके हाथ में, अपने स्वामियों की कृपा दृष्टि की बदौलत, कुछ अख्तियार है, रोब है, सम्मान है। गैर अंग्रेजीदां अनार्य है और उसका काम केवल आर्यो की सेवा टहल करना है और उनके भोग-विलास और भोजन के लिए सामग्री जुटाना है। यह आर्यवाद बड़ी तेजी से बढ़ रहा है दिन दूना और रात चौगुना। अगर सौ-दौ-सौ साल में भी वह सारे भारत में फैल जाता, तो हम कहते बला से, विदेशी जबान है, हमारा काम तो चलता है, लेकिन इधर तो हजार-दो हजार साल में भी उसके जनता में फैलने का इमकान नहीं। दूसरे वह पढ़े-लिखे को जनता से अलग किए चली जा रही है। यहां तक कि इनमें एक दीवार खिंच गई है। साम्राज्यवादी जाति की भाषा में कुछ तो उसके घमंड और दबदबे का असर होना ही चाहिए। हम अंग्रेजी पढ़कर अगर अपने को महकूम जाति का अंग भूल कर हाकित जाति का अंग समझने लगे हैं, कुछ वही गरूर, कुछ वही अहम्मन्यता, हम चुनीं दगरे नेस्त वाला भाव, बहुतों में कस-दन और थोड़े आदमियों में बेजाने पैदा हो जाते हैं, तो ताज्जुब नहीं। हिन्दुस्तानी साहबों की अपनी बिरादरी हो गई है, उनका रहन-सहन, चाल-ढाल, पहनावा, बर्ताव सब साधारण जनता से अलग है। साफ मालूम होता है कि यह कोई नई उपज है, जो हमारा अंग्रेजी साहब करता है। वही हमारा हिन्दुस्तानी साहब करता है, करने पर मजबूर है। अंग्रेजीयत ने उसे हिप्नोटाइज कर दिया है, उसमें बेहद उदारता आ गई है, छूतछात से सोलहो आना नफरत हो गई है, वह अंग्रेजी साहब की मेज का जूठन भी खा लेगा और उसे गुरु का प्रसाद समझ लेगा, लेकिन जनता उसकी उदारता में स्थान नहीं पा सकती, उसे तो वह काला आदमी समझता है। हां, जब कभी अंग्रेजी साहबों से उसे ठोकर मिलती है, तो वह दौड़ा हुआ जनता के पास फरियाद करने जाता है, उसी जनता के पास, जिसे वह काला आदमी और अपना भोग्य समझता है। अगर अंग्रेजी स्वामी उसे नौकरियां देता जाए, उसे, उसके लड़कों, पोतों, सबको तो उसे अपने हिन्दुस्तानी या गुलाम होने का भी ख्याल भी न आएगा। मुश्किल तो यही है कि वहां भी गुंजायश नहीं है। ठोकरों पर ठोकरें मिलती हैं, तब यह क्लास देशभक्त बन जाता है और जनता का वकील और नेता बनकर उसका जोर लेकर अंग्रेज साहब का मुकाबिला करना चाहता है। तब उसे ऐसी भाषा की कमी महसूस होती है, जिसके द्वारा वह जनता तक पहुंच सके। कांग्रेस को थोड़ा बहुत यश मिला, वह जनता को उसी भाषा में अपील करने से मिला। हिन्दुस्तान में इस वक्त करीब चौबीस-पचीस करोड़ आदमी हिन्दुस्तानी भाषा समझ सकते हैं यह क्या दुख की बात नहीं है कि वे जो भारतीय जनता की वकालत के दावेदार हैं, वह भाषा न बोल सकें और न समझ सकें, जो पचीस करोड़ की भाषा है और जो थोड़ी सी कोशिश से सारे भारतवर्ष की भाषा बन सकती है? लेकिन अंग्रेजी के चुने हुए शब्दों और मुहावरों और मंजी हुई भाषा में अपनी निपुणता और कुशलता दिखाने का रोग इतना बढ़ा हुआ है कि हमारी कौमी सभाओं में सारी कार्रवाई अंग्रेजी में होती है, अंग्रेजी में भाषण दिए जाते हैं, प्रस्ताव पेश किए जाते हैं। सारी लिखा-पढ़ी अंग्रेजी में होती है। उस संस्था में भी, जो अपने को जनता की संस्था कहती है यहां तक कि सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट भी जो जनता के खासुलखास झंडे बरदार हैं। सभी कार्रवाही अंग्रेजी में करते हैं।

जब हमारी कौमी संस्थाओं की यह हालत है, तो हम सरकारी महकमों और यूनिवर्सिटियों से क्या शिकायत करें? मगर सौ वर्ष तक अंग्रेजी पढ़ने-लिखने और बोलने के बाद भी एक हिन्दुस्तानी भी ऐसा नहीं निकला, जिसकी रचना का अंग्रेजी में आदर हो। हम अंग्रेजी भाषा की खैरात खाने के इतने आदी हो गए हैं कि अब हम हाथ-पांव हिलाते कष्ट होता है। हमारी मनोवृति कुछ वैसी ही हो गई है, जैसी अक्सर भीखमंगों की होती है। जो इतने आरामतलब हो जाते हैं कि मजदूरी मिलने पर भी नहीं करते। यह ठीक है कि कुदरत अपना काम कर रही है और जनता कौमी भाषा बनाने में लगी हुई है। इधर सिनेमा के प्रचार में भी इस समस्या को हल करना शुरू कर दिया है और ज्यादातर फिल्में हिन्दुस्तानी भाषा में ही निकल रही हैं सभी ऐसी भाषा में बोलना चाहते हैं, जिसे ज्यादा से ज्यादा आदमी समझ सकें, लेकिन जब जनता अपने रहनुमाओं को अंग्रेजी में बोलते और लिखते देती है, तो कौमी भाषा से उसे जो हमदर्दी है, उसमें जोर का धक्का लगता है, उसे कुछ ऐसा ख्याल होने लगता है कि कौमी भाषा कोई जरूरी चीज नहीं है। जब उसके नेता, जिनके कदमों के निशान पर वह चलती है और जो जनता की रूचि बनाते हैं, कौमी भाषा को हकीर समझें-सिवाए इसके कि कभी-कभी श्रीमुख से तारीफ कर दिया करें-तो जनता से यह उम्मीद करना कि वह कौमी भाषा के मुर्दे को पूजती जाएगी, उसे बेवकूफ समझना है और जनता को आप जो चाहें इल्जाम दे लें, वह बेवकूफ नहीं है। अपने समझदारी का जो तराजू अपने दिल में बना रखा है, उस पर वह चाहे पूरी न उतरे, लेकिन हम दावे से कह सकते हैं कि कितनी ही बातों में वह आपसे और हमसे कहीं ज्यादा समझदार है। कौमी भाषा के प्रचार का एक बड़ा जरिया हमारे अखबार हैं।, लेकिन अखबारों की सारी शक्ति नेताओं के भाषणों, व्याख्यानों और बयानों के अनुवाद करने में ही खर्च हो जाती है और चूंकि शिक्षित समाज ऐसे अखबार खरीदने और पढ़ने में अपनी हतक समझता है, इसलिए ऐसे पत्रों का प्रचार बढ़ने नहीं पाता और आमदनी कम होने के सबब वे पत्र को मनोरंजक नहीं बना सकते। वायसराय या गवर्नर अंग्रेजी में बोलें, हमें कोई ऐतराज नहीं। लेकिन अपेन ही भाइयों के ख्यालात तक पहुंचने के लिए हमें अंग्रेजी से अनुवाद करना पड़े, यह हालत भारत जैसे गुलाम देश के सिवा और कहीं नजर नहीं आ सकती है और जबान की गुलामी ही असली गुलामी है। ऐसे भी देश संसार में है, जिन्होंने हुक्मरां जाति की भाषा को अपना लिया। लेकिन उन जातियों के पास न अपनी तहजीब या सभ्यता थी और न अपना कोई इतिहास था, न अपनी कोई भाषा थी। वे उन बच्चों की तरह थे, जो थोड़े ही दिनों में अपनी मातृभाषा भूल जाते हैं और नई भाषा में बोलने लगते हैं। क्या हमारा शिक्षित भारत वैसा ही बालक है? ऐसा मानने की इच्छा नहीं होती, हालांकि लक्षण सब वही हैं।

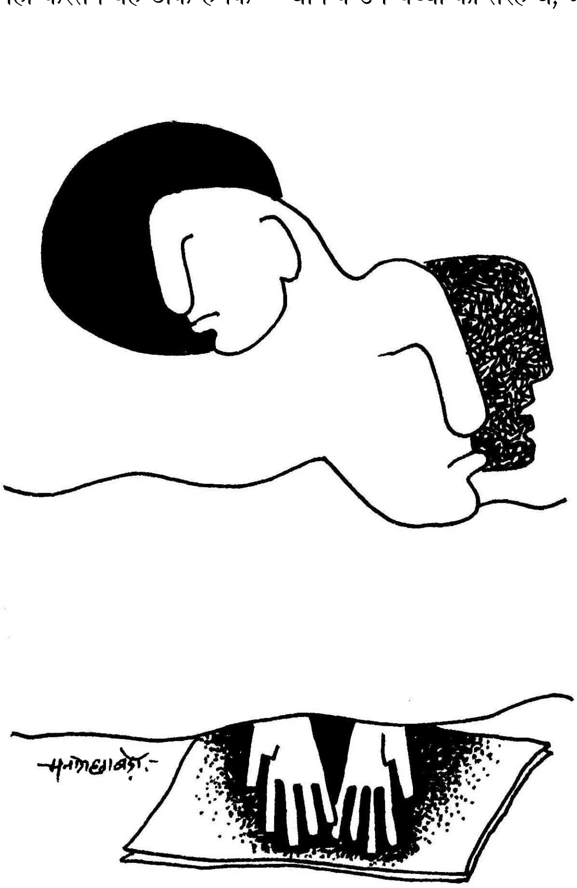

सवाल यह होता है कि जिस कौमी भाषार पर इतना जोर दिया जा रहा है, उसका रूप क्या है? हमें खेद है कि अभी तक हम उसकी कोई खास सूरत नहीं बना सके हैं इसलिए कि जो लागे उसका रूप बना सकते थे, वे अंग्रेजी के पुजारी थे और हैं, मगर उसकी कसौटी यही है कि उसे ज्यादा से ज्यादा आदमी समझ सकें। हमारी कोई सूबेवाली भाषा इस कसौटी पर पूरी नहीं उतरती। सिर्फ हिन्दूस्तानी करती है, क्योंकि मेरे ख्याल में हिन्दी और उर्दू दोनों एक जबान हैं। क्रिया और कर्ता, फेल और फाइल, जब एक हैं तो उनके एक होने में कोई संदेह नहीं हो सकता। उर्दू वह हिन्दुस्तानी जबान है, जिसमें फारसी-अरबी के लफ्ज ज्यादा हों, उसी तरह हिन्दी वह हिन्दुस्तानी है, जिसमें संस्कृत के शब्द ज्यादा हों, लेकिन जिस तरह अंग्रेजी में चाहे लैटिन या ग्रीक शब्द अधिक हों या एंग्लोसेक्सन, दोनों ही अंग्रेजी हैं, उसी भांति हिन्दुस्तानी भी अन्य भाषाओं के शब्दों में मिल जाने से कोई भिन्न भाषा नहीं हो जाती। साधारण बातचीत में तो हम हिन्दुस्तानी का व्यवहार करते ही हैं। थोड़ी सी कोशिश से हम इसका व्यवहार करते ही हैं। थोड़ी सी कोशिश से हम इसका व्यवहार उन सभी कामों में कर सकते हैं, जिनसे जनता का संबंध है। मैं यहां एक उर्दू पत्र से दो-एक उदाहरण देकर अपना मतलब साफ कर देना चाहता हूं-

'एक जमाना था, जब देहातों में चरखा और चक्की के बगैर कोई घर खाली न था। चक्की चूल्हे से छुट्टी मिली, तो चरखे पर सूत कात लिया। औरतें चक्की पीसती थीं, इससे उनकी तंदुरुस्ती बहुत अच्छी रहती थी, उनके बच्चे मजबूत और जफाकश होते थे। मगर अब तो अंग्रेजी तहजीब और मुआशरत ने सिर्फ शहरों में ही नहीं, देहातों में भी काया पलट दी है। हाथ की चक्की के बजाए अब मशीन का पिसा हुआ आटा इस्तेमाल किया जाता है। गांवों में चक्की न रही, तो चक्की का गीत कौन गाए? जो बहुत गरीब हैं, वे अब भी घर की चक्की का आटा इस्तेमाल करते हैं। चक्की पीसने का वक्त अमूमन रात का तीसरा पहर होता है। सरे शाम ही से पीसने के लिए अनाज रख दिया जाता है और पिछले पहर से उठकर औरतें चक्की पीसने बैठ जाती हैं।'

इस पैराग्राफ को मैं हिन्दुस्तानी का बहुत अच्छा नमूना समझता हूं, जिसे समझने में किसी भी हिन्दी समझने वाले आदमी को जरा भी मुश्किल न पड़ेगी। अब में उर्दू का तीसरा पैरा देता हूं।

'उसकी वफ़ा का जज़्बा सिर्फ जिंदा हस्तियों के लिए महदूद न था। वह ऐसी परवाना थी कि न सिर्फ जलती हुई शमां पर निसार होती थी, बल्कि बुझी हुई शमां पर भी खुद को कुर्बान कर देती थी। अगर मौत का ज़ालिम हाथ उसके रफ़ीक हयात को छीन लेता था तो वह बाकी जिंदगी उसके नाम और उसकी याद में बसर कर देती थी। एक की कहलाने और एक की हो जाने के बाद फिर दूसरे किसी शख्स का ख्याल भी उसके वफ़ापरस्त दिल में भूल कर भी न उठाता था।'

अगर पहले जुमले को हम इस तरह लिखें 'वह सिर्फ जिंदा आदमियों के साथ वफा न करती थी, और 'वफापरस्त' की जगह 'प्रेमी' 'रफ़ीक हयात' की जगह 'जीवन साथी' का व्यवहार करें, तो वह साफ हिन्दुस्तानी बन जाएगी और फिर उसके समझने में किसी को दिक्कत न होगी। अब मैं एक हिन्दी पत्र से एक पैरा नकल करता हूं।

'मशीनों के प्रयोग से आदमियों का बेकार होना और नए-नए आविष्कारों से बेकारी बढ़ना, फिर बाजार की कमी, रही-सही कमी को और भी पूरा कर देती है। बेकारी की समस्या को अधिक भयंकर रूप देने के लिए यही काफी थी, लेकिन इसके ऊपर संसार में हर दसवें साल की जनगणना देखने से मालूम हो रहा है कि जनसंख्या बढ़ती ही जा रही है। पूंजीवाद कुछ लोगों को धनी बनाकर उसके लिए सुख और विलास की नई-नई सामग्री जुटा सकता है।

यह हिन्दी के एक मशहूर और माने हुए विद्वान की शैली का नमूना, इसमें प्रयोग, आविष्कार, समस्या यह तीन शब्द ऐसे हैं, जो उर्दूदां लोगों को अपरिचित लगेंगे। बाकी सभी भाषाओं के बोलने वाले की समझ में आ सकते हैं। इससे साबित हो रहा है कि हिन्दी या उर्दू में कितने थोड़े रद्दोबदल से उसे हम कौमी भाषा बना सकते हैं। हमें सिर्फ अपने शब्दों का कोष बढ़ाना पड़ेगा और वह भी ज्यादा नहीं। एक-दूसरे लेख की शैली का नमूना और लीजिए।

'अपने साथ रहने वाले नागरिकों के साथ हमारा रोज-रोज का संबंध होता है, उसमें क्या आप समझते हैं कि वस्तुतः न्यायकर्ता, जेल के अधिकारी और पुलिस के कारण ही समाज विरोधी कार्य बढ़ने नहीं पाते? न्यायकर्ता तो सदा खुंखार बना रहता है, क्योंकि वह कानून का पागल है। अभियोग लगाने वाला, पुलिस को खबर देने वाला, पुलिस का गुप्तचर तथा इसी श्रेणी के और लोग जो अदालतों के इर्द-गिर्द मंडराया करते हैं और किसी प्रकार अपना पेट पालते हैं, क्या यह लोग व्यापक रूप से समाज में दुर्नीति का प्रचार नहीं करते? मामलों-मुकद्दमों की रिपोर्ट पढ़िए, पर्दे के अंदर नजर डालिए, अपनी विश्लेषक बुद्धि को अदालतों के बाहरी भाग तक ही परिमित न रखकर भीतर ले जाइए, तब आपको जो कुछ मालूम होगा, उससे आपका सिर बिल्कुल भन्ना उठेगा।

यहां अगर हम समाज विरोधी की जगह समाज को नुक्सान पहुंचाने वाले अभियोग की जगह जुर्म, गुप्तचर की जगह मुखबिर 'श्रेणी की जगह दर्जा, दुर्नीति की जगह बुराई, विश्लेषक बुद्धि की जगह परख, परिमित की जगह बंद लिखें तो वह सरल और सुबोध ा हो जाती है और हम उसे हिन्दुस्तानी कह सकते हैं।

इन उदाहरणों या मिसालों से जाहिर है कि हिन्दी कोष में उर्दू के और उर्दू कोष में हिन्दी के शब्द बढ़ाने से काम चल सकता है। यह भी निवेदन कर देना चाहता हूं कि थोड़े दिन पहले फारसी और उर्दू के दरबारी भाषा होने के सबब से फारसी के शब्द जितना रिवाज पा गए हैं। उतना संस्कृत के शब्द नहीं। संस्कृत शब्दों के उच्चारण में जो कठिनाई होती है, उसको हिन्दी के विद्वानों ने पहले ही लिख लिया और उन्होंने हजारों संस्कृत शब्दों को इस तरह बदल दिया कि वह आसानी से बोले जा सकें। ब्रजभाषा और अवध ी में इसकी बहुत सी मिसालें मिलती हैं, जिन्हें यहां लाकर मैं आपका समय नहीं खराब करना चाहता। इसलिए कौमी भाषा में उसका वही रूप रखना पड़ेगा और संस्कृत शब्दों की जगह, जिन्हें सर्व साधारण नहीं समझते, ऐसी फारसी शब्द रखने पड़ेंगे, जो विदेशी होकर भी इतने आम हो गए हैं कि उनको समझने में जनता को कोई दिक्कत नहीं होती। अभियोग का अर्थ वही समझ सकता है, जिसने संस्कृत पढ़ी हो। जुर्म का मतलब बे-पढ़े भी समझते हैं। गुप्तचर की जगह मुखबिर, दुर्नीति की जगह बुराई ज्यादा सरल शब्द हैं। शुद्ध हिन्दी के भक्तों को मेरे इस बयान से मतभेद हो सकता है। लेकिन अगर हम ऐसी कौमी जबान चाहते हैं, जिसे ज्यादा से ज्यादा आदमी समझ सकें, तो हमारे लिए दूसरा रास्ता नहीं है और यह कौन नहीं चाहता कि उसकी बात ज्यादा से ज्यादा लोग समझें, ज्यादा से ज्यादा आदमियों के साथ उसका आत्मिक संबंध हो। हिन्दी में एक फीक ऐसा है जो यह कहता है कि चूंकि हिन्दुस्तान की सभी सुबेवाली भाषाएं संस्कृत से निकली हैं और

उनमें संस्कृत के शब्द अधिक है।, इसलिए हिन्दी में हमें अधिक से अधिक संस्कृत के शब्द लाने चाहिएं, ताकि अन्य प्रांतों के लोग उसे आसानी से समझ सकें। उर्दू की मिलावट करने से हिन्दी का कोई फायदा नहीं। उन मित्रों को मैं यही जवाब देना चाहता हूं कि ऐसा करने से दूसरे सूबे के लोग चाहे आपक भाषा समझ लें, लेकिन खुद हिन्दी बोलने वाले न समझेंगे। क्योंकि, साधारण हिन्दी बोलने वाला आदमी शुद्ध संस्कृत शब्दों का जितना व्यवहार करता है, उससे कहीं ज्यादा फारसी शब्दों का। हम इस सत्य की ओर से आंखें नहीं बंद कर सकते और फिर इसकी जरूरत ही क्या है कि हम भाषा को पवित्रता की धुन में तोड़-मरोड़ डालें, जरूर सच है कि बोलने की भाषा और लिखने की भाषा में कुछ न कुछ अंतर होता है, लेकिन लिखित भाषा सदैव बोलचाल की भाषा से मिलते-जुलते रहने की कोशिश किया करती है। लिखित भाषा की खूबी यही है कि वह बोलचाल की भाषा से मिले। इस आदर्श से वह जितनी ही दूर जाती है, उतनी ही अस्वाभाविक हो जाती है। बोलचाल की भाषा भी अक्सर और परिस्थिति अनुसार बदलती रहती है। विद्वानों के समाज में जो भाषा बोली जाती है, वह बाजार की भाषा से अलग होती है। शिष्ट भाषा की कुछ न कुछ मर्यादा तो होनी ही चाहिए, लेकिन इतनी नहीं कि उससे भाषा के प्रचार में बाधा पड़े। फारसी शब्दों में शीन-काफ की बड़ी कैद है, लेकिन कौमी भाषा में यह कैद ढीली करनी पड़ेगी। पंजाब के बड़े-बड़े विद्वान भी क़ की जगह क ही का व्यवहार करते हैं। मेरे ख्याल में तो भाषा के लिए सबसे महत्व के चीज हैं कि उसे ज्यादा से ज्यादा आदमी चाहे वे किसी प्रांत के रहने वाले हों, समझें, बोलें और लिखें। ऐसी भाषा न पंडिताऊ होगी और न मौलवियों की। उसका स्थान इन दोनों के बीच में हैं। यह जाहिर है कि अभी इस तरह की भाषा में इबारत की चुस्ती और शब्दों के विन्यास की बहुत थोड़ी गुंजायश है और जिसे हिन्दी या उर्दू पर अधिकार है, उसके लिए चुस्त और सजीली भाषा लिखने का लालच बड़ा जोरदार होता है। लेखक केवल अपने मन का भाव नहीं प्रकट करना चाहता, बल्कि उसे बना-संवार कर रखना चाहता है। बल्कि यों कहना चाहिए कि वह लिखता है रसिकों के लिए, साधारण जनता के लिए नहीं। उसी तरह, जैसे कलावंत राग रागनियां गाते समय केवल संगीत के आचार्यों से ही दाद चाहता है। सुनने वालों में कितने अनाड़ी बैठे है, इसकी उसे कुछ भी परवाह नहीं होती। अगर हमें राष्ट्रभाषा का प्रचार करना है, तो हमें इस लालच को दबाना पड़ेगा। हमें इबारत की चुस्ती पर नहीं, अपनी भाषा को सलीम बनाने पर खासतौर से ध्यान रखना होगा। इस वक्त ऐसी भाषा कानों और आंखों को खटकेगी जरूर, कहीं गंगा-मदार का जोड़ नजर आएगा, कहीं एक उर्दू शब्द हिन्दी के बीच में इस तरह डटा हुआ मालूम होगा, जैसे कौओं के बीच में हंस आ गया हो। कहीं उर्दू के बीच में हिन्दी शब्द हलुए में नमक के डले की तरह मजा बिगाड़ देंगें। पंडितजी भी खिलखिलाएंगे और मौलवी साहब भी नाक सिंकोड़ेंगे और चारों तरफ से शोर मचेगा कि हमारी भाषा का गला रेता जा रहा है, कुंद छुरी से उसे ज़िबह किया जा रहा है। उर्दू को मिआने के लिए यह साजिश की गई है, हिन्दी को डुबाने के लिए यह माया रची गई है! लेकिन हमें इन बातों को कलेजा मजबूत करके सहना पड़ेगा। राष्ट्रभाषा केवल रईसों और अमीरों की भाषा नहीं हो सकती। उसे किसानों और मजदूरों की भी बनना पड़ेगा। जैसे रईसों और अमीरों से ही राष्ट्र नहीं बनता, उसी तरह उनकी गोद में पली हुई भाषा राष्ट्र की भाषा नहीं हो सकती। यह मानते हुए कि सभाओं में बैठकर हम राष्ट्रभाषा की तामीर नहीं कर सकते। राष्ट्रभाषा तो बाजारों में और गलियों में बनती है, लेकिन सभाओं में बैठकर हम उसकी चाल को तेज जरूर कर सकते हैं। इधर तो हम राष्ट्र-राष्ट्र का गुल मचाते हैं, उधर अपनी-अपनी जबानों के दरवाजों पर संगीनें लिए खड़े रहते हैं कि कोई उसकी तरफ आंख न उठा सकें। हिन्दी में हम उर्दू शब्दों को बिना तकल्लुफ स्थान देते हैं, लेकिन उर्दू के लेखक संस्कृत के मामूली शब्दों को भी अंदर नहीं आने देते। वह चुन-चुन कर हिन्दी की जगह फारसी और अरबी के शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। जरा-जरा से मुज़क्कर और मुअन्नस के भेद पर तूफान मच जाया करता है। उर्दू जबान सिरात का पुल बनकर रह गई है, जिससे जरा इधर-उध ार हुए और जहन्नुम में पहुंचे। जहां राष्ट्र भाषा के प्रचार करने का प्रयत्न हो रहा है, वहां सबसे बड़ी दिक्कत इसी लिंग भेद के कारण पैदा हो रही है। हमें उर्दू के मौलवियों और हिन्दी के पंडितों से उम्मीद नहीं कि वे इन फंदों में कुछ को नर्म करेंगे यह काम हिन्दुस्तानी भाषा का होगा कि वह जहां तक हो सके, निरर्थक कैदों से आजाद हों। आंख क्यों स्त्रीलिंग है और कान क्यों पुलिंग है, इसका कोई संतोष के लायक जवाब नहीं दिया जा सकता।

मेरी समझ में यह बात नही ंआती कि जो संस्था जनता की भाषा का बायकाट करती है, उस पर दूर ही से लाठी लेकर उठती है, वह राष्ट्रीय संस्था किस लिहाज से है और जो लोग जनता की भाषा नहीं बोल सकते, वह जनता के वकील कैसे बन सकते हैं। फिर चाहे वे समाजवाद या समस्टिवाद या किसी और वाद का लेबल लगाकर आएं। संभव है इस वक्त आपको राष्ट्रभाषा की जरूरत न मालूम होती है और अंग्रेजी से आपका काम मजे से चल सकता हो, लेकिन अगर आगे चलकर हमें फिर हिन्दुस्तान को घरेलू लड़ाइयों से बचाना है, तो हमें उन सारे नातों को मजबूत बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्र के अंग हैं और जिनमें कौमी भाषा का स्थान सबसे ऊंचा नहीं, तो किसी से कम भी नही है। जब तक आप अंग्रेजी को अपनी कौमी भाषा बनाए हुए हैं, तब तक आपकी आजादी की धुन पर किसी को विश्वास नहीं आता। वह भीतर की आतमा से निकली हुई तहरीक नहीं है, केवल आजादी के शहीद बन जाने की हविश है। यहां जय-जय के नारे और फूलों की वर्षा नहीं। लेकिन जो लोग हिन्दुस्तान को एक कौम देखना चाहते हैं।-इसलिए नहीं कि वह कौम कमजोर कौमों को दबाकर, भांति-भांति

के मायाजाल फैलाकर, रोशनी और ज्ञान फैलाने का ढोंग रचकर, अपने अमीरों का व्यापार बढ़ाएं और अपनी ताकत पर घमंड करे, बल्कि इसीलिए कि वह आपस में हमदर्दी, एकता और सद्भाव पैदा करे और हमें इस योग्य बनाए कि हम अपने भाग्य का फैसला अपनी इच्छानुसार कर करसें-उनका यह फर्ज है कि कौमी भाषा के विकास और प्रचार में वे हर तरह मदद करें। और यहां सब हमारे हाथ में है। विद्यालयों में कम कौमी भाषा के दर्जे खोल सकते है। हर एक ग्रेजुएट के लिए कौमी भाषा में बोलना और लिखना लाजिमी बना सकते हैं। हम हरेक पत्र में, चाहे वह मराठी हो या गुजराती या अंग्रेजी या बंगला, एक दो कालम कौमी भाषा के लिए अलग कर सकते हैं। अपने प्लेटफार्म पर कौमी भाषा का व्यवहार कर सकते हें। आपस में कौमी भाषा में बातचीत कर सकते हैं। जब तक मुल्की दिमाग अंग्रेजों की गुलामी में खुश होता रहेगा, उस वक्त तक भारत सच्चे मानी में राष्ट्र न बन सकेगा। यह भी जाहिर है कि प्रांत या एक भाषा के बोलने वाले कौमी भाषा नहीं बना सकते। कौमी भाषा तो तभी बनेगी, जब सभी प्रांतों के दिमागदार लोग उसमें सहयोग देंगे। संभव है कि दस-पांच साल भाषा का कोई रूप स्थिर न हो, कोई पूरब जाए कोई पश्चिम, लेकिन कुछ दिनों के बाद तूफान शांत हो जाएगा और जहां केवल धूल और अंधकार और गुबार था, वहां हरा-भरा साफ-सुथरा मैदान निकल आएगा, जिनके कलम में मुर्दों को जलाने और सोतों को जगाने की ताकत है, वे सब वहां से विचरते हुए नजर आएंगे। तब हमें टैगोर, मुंशी, देशाई और जोशी की कृतियों से आनंद और लाभ उठाने के लिए मराठी और बंगला या गुजराती न सीखनी पड़ेगी। कौमी भाषा के साथ कौमी साहित्य का उदय होगा और हिन्दुस्तानी भी दूसरी सम्पन्न और सरसब्ज भाषाओं की मजलिस में बैठेगी। हमारा साहित्य प्रांतीय न होकर कौमी हो जाएगा। इस अंग्रेजी प्रभुत्व की यह बरकत है कि आज एडगर वैलेस, गाई बुथबी जैसे लेखकों से हम जितने मनहूस हैं, उसका शतांश भी अपने शरत और मुंशी और प्रसाद की रचनाओं से नहीं। डाक्टर टैगोर भी अंग्रेजी में न लिखते, तो शायद बंगाली दायरे के बाहर बहुत कम आदमी उनसे वाकिफ होते। मगर कितने खेद की बात है कि महात्मा गांधी के सिवा किसी भी दिमाग ने कौमी भाषा की जरूरत नहीं समझी और उस पर जोर नहीं दिया। यह काम कौमी सभाओं का है कि वह कौमी भाषा के प्रचार के लिए इनाम और तमगे दें, उसके लिए विद्यालय खोलें, पत्र निकालें और जनता में प्रोपेगंडा करें। राष्ट्र के रूप में संगठित हुए बगैर हमारा दुनिया में जिंदा रहना मुश्किल है। यकीन के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता कि इस मंजिल पर पहुंचने की शाही सड़क कौन सी है। मगर दूसरी कौमों के साथ कौमी भाषा को देखकर सिद्ध होता है कि कौमियत के लिए लाजिमी चीजों में भाषा भी है और जिसे एक राष्ट्र बनना है, उसे एक कौमी भाषा भी बनानी पड़ेगी। इस हकीकत को मानते हैं, लेकिन सिर्फ ख्याल में। उस पर अमल करने का हममें साहस नहीं है। यह काम इतना बड़ा और मार्के का है कि इसके लिए एक ऑल इंडिया संस्था का होना जरूरी है जो इसके महत्व को समझती हुई इसके प्रचार के उपाय सोचे और करे।

भाषा और लिपि का संबंध इतना करीबी है कि आप एक को लेकर दूसरे को छोड़ नहीं सकते। संस्कृत से निकली हुई जितनी भाषाएं हैं। उनको एक लिपि में लिखने में कोई बाधा नहीं है, थोड़ा सा प्रांतीय संकोच चाहे हो। पहले भी स्व. बाबू शारदाचरण मित्र ने एक लिपि-विस्तार-परिषद बनाई थी और कुछ दिनो तक एक पत्र निकाल कर वह आंदोलन चलाते रहे, लेकिन उससे कोई खास फायदा न हुआ। केवल लिपि एक हो जाने से भाषाओं का अंतर कम नहीं होता और हिन्दी लिपि में मराठी समझना उतना ही मुश्किल है, जितना मराठी लिपि में। प्रांतीय भाषाओं को हम प्रांतीय लिपियों में लिखते जाएं, कोई एतराज नहीं, लेकिन हिन्दुस्तानी भाषा के लिए एक लिपि से खास मोह है, बल्कि इसलिए कि हिन्दी लिपि का प्रचार बहुत ज्यादा और उसके सीखने में भी किसी को दिक्कत नहीं हो सकती, लेकिन उर्दू लिपि हिन्दी से बिल्कुल जुदा है और जो लोग उर्दू लिपि के आदि हैं, उन्हें हिन्दी लिपि का व्यवहार करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। मगर जबान एक हो जाए, तो लिपि का भेद कोई महत्व नहीं रखता। अगर उर्दूदां आदमी को मालूम हो जाए, कि केवल हिन्दी अक्षर सीखकर वह डा. टैगोर या महात्मा गांधी के विचारों को पढ़ सकता है, तो वह हिन्दी सीख लेगा। यूपी के प्राइमरी स्कूलों में तो दोनों लिपियों की शिक्षा दी जाती है। हर एक बालक उर्दू और हिन्दी की वर्णमाला जानता हैं। जहां तक हिन्दी लिपि पढ़ने की बात है, किसी उर्दूदां को एतराज न होगा। स्कूलों में हफ्ते में एक घंटा दे देने से हिन्दी वालों को उर्दू और उर्दूवालों को हिन्दी लिपि सिखाई जा सकती है। लिखने के विषय में यह प्रश्न इतना सरल नहीं है। उर्दू में स्वर आदि के ऐब होने पर भी उसमें गति का एक ऐसा गुण है कि उर्दू जानने वाले उसे नहीं छोड़ सकते और जिन लोगों का इतिहास और संस्कृत और गौरव उर्दू लिपि में सुरक्षित है, उनसे मौजूदा हालत में उसके छोड़ने की आशा भी नहीं की जा सकती। उर्दूदां लोग हिन्दी जितनी आसानी से सीख सकते है।। उसका लाजिम नतीजा यह होगा कि ज्यादातर लोग लिपि सीख जाएंगे और राष्ट्रभाषा का प्रचार दिन-दिन बढ़ता जाएगा। लिपि का फैसला समय करेगा कि ज्यादा जानदार हैं वह आगे आएगी। दूसरी पीछे रह जाएगी। लिपि के भेद का विषय छेड़ना घोड़े के आगे गाड़ी को रखना होगा। हमें इस शर्त को मानकर चलना है कि हिन्दी और उर्दू दोनों ही राष्ट्र लिपियां हैं और मेरा अख्तियार है, हम चाहें जिस लिपि में उसका व्यवहार करें। हमारी सुविधा, हमारी मनोवृति और हमारे संस्कार इसका फैसला करेंगे।'

●●

भाषा का साम्राज्यवाद

-न्गुगी वा थ्योंगो
अनु.-आनंद स्वरूप वर्मा

दुनिया में हर व्यक्ति के पास एक भाषा है, जो या तो उसकी है या उसके मां-बांप की है या जिसे उसने जन्म से अथवा जीवन में आगे चलकर कभी अपना लिया है। इसलिए जब हम एक संभावित विश्व भाषा के रूप में अंग्रेजी पर विचार करते हैं तो हम यह निष्कर्ष उन भाषाओं और संस्कृतियों के बीच से निकालते हैं, जिनमें हमारी जड़े हैं। यह विषय-अनेक भाषाओं में से एक भाषा का चुनाव करने का सवाल भी सामने आता है। इसलिए जिस मुद्दे पर हमें विचार करना है, उसका सरोकार अंग्रेजी तथा विश्व की विभिन्न भाषाओं के बीच संबंध से है। संक्षेप में कहें तो वस्तुतः हम विभिन्न भाषाओं के मिलन के बारे में बातचीत कर रहे हैं।

प्रत्येक भाषा के दो पहलू होते हैं। एक पहलू सम्बंध भाषा की उस भूमिका को बताता है जो हमें अपने अस्तित्व के लिए किए जाने वाले संघर्ष के दौरान एक-दूसरे के साथ सम्प्रेषण के योग्य बनाता है। इसकी दूसरी भूमिका उस इतिहास और संस्कृति की वाहक की है जो एक लंबे अरसे तक सम्पेषण की प्रक्रिया के दौरान निर्मित होती है। अपनी पुस्तक 'डी कोलोनाइजिंग दि माइंड' में मैंने भाषा को व्यापक जनसमुदाय की सामूहिक स्मृति का कोष बताया है। ये दोनों पक्ष एक-दूसरे से अविभाज्य है, इनमें एक द्वंद्वात्मक एकता का निर्माण होता है।

तो भी इन दोनों पहलुओं में से कोई भी एक पहलू दूसरे के मुकाबले ज्यादा प्रबल हो सकता है। यह उन परिस्थितियों पर निर्भर करता है, जो भाषा के प्रयोग के इर्द-गिर्द होती हैं और खास तौर से उन परिस्थितियों पर, जिनमें विभिन्न भाषाओं का एक-दूसरे से सामना होता है। मिसाल के तौर पर क्या दोनों भाषाओं का मिलन समानता और स्वतंत्रता के आधार पर हो रहा है? अतीत में और आज के विश्व में भाषाओं के बीच जिस तरह का टकराव है और इसी क्रम में कहें तो एक निश्चित समय-सीमा में दूसरे पर पहले पहलू का जो प्रभुत्व हो रहा है। उसका निर्धारण संबद्ध राष्ट्रों के बीच स्वतंत्रता की मौजूदगी या इसके अभाव की गुणवत्ता से होता है।

इस सिलसिले में मैं एक दो उदाहरण देना चाहूंगा। स्कैंडेनेवियाई देशों लोग अंग्रेजी जानते हैं, लेकिन वे इसलिए अंग्रेजी नहीं सीखते, ताकि अपने देश के अंदर इसे आपसी संप्रेषण का साधन बना सकें। वे इसलिए भी अंग्रेजी नहीं सीखते, जिससे अंग्रेजी उनकी खुद की राष्ट्रीय संस्कृतियों का वाहक बने अथवा एक ऐसा साधन बने, जिसके जरिए विदेशी संस्कृति थोप दी जाए।

वे अंग्रेजी सीखते हैं ताकि अंग्रेजों के साथ या अंग्रेजी भाषी लोगों के साथ पारस्परिक क्रिया में उन्हें मदद मिल सके। व्यापार, वाणिज्य, पर्यटन तथा विदेशों के साथ सम्बन्धों को विकसित करने में सहूलियत हो। उनके लिए अंग्रेजी बाहर की दुनिया के साथ सम्प्रेषण का साधन मात्र है। यही हाल जापानियों, पश्चिम जर्मनी के लोगों और अनेक देशों के लोगों का है। इन देशों में अंग्रेजी ने कभी उनकी खुद की भाषा का स्थान नहीं लिया।

जब विभिन्न राष्ट्र स्वतंत्रता और समानता की शर्तों पर एक-दूसरे की भाषा में सम्प्रेषण की जरूरत पर जोर देते हैं। वे दूसरे की भाषा महज इसलिए स्वीकार करते हैं, ताकि एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध विकसित करने में मदद मिले। लेकिन जब यही राष्ट्र उत्पीड़क और उत्पीड़ित के रूप में मिलते हैं। मिसाल के तौर पर साम्राज्यवाद के अधीन, तब उनकी भाषाएं कभी भी वास्तविक जनतांत्रिक मिलन का अनुभव नहीं कर सकती। उत्पीड़क राष्ट्र अपनी भाषा का इस्तेमाल उत्पीड़ित राष्ट्र में अपनी घेराबंदी और मजबूत बनाने के लिए करता है। भाषा के हथियार को 'बाइबल' और तलवार के साथ शामिल कर लिया गया - उस लक्ष्य को हासिल करने के लिए जिसे 19वीं शताब्दी के साम्राज्यवाद के संदर्भ में डेविड लीविंगस्टोन ने ईसाइयत के साथ पांच प्रतिशत और कहा था। डेविड लीविंगस्टोन अगर आज जीवित हो तो संभवतः वह इस प्रक्रिया को इस तरह वर्णित करते - ईसाईयत, कर्ज और साथ में चालीस प्रतिशत कर्ज का भुगतान। ऐसी स्थिति में अगर कोई चीज दांव पर लगी है तो वह भाषा है। जो महज संप्रेषण का साधन नहीं रह जाती।

यह बताने की जरूरत नहीं है कि अंग्रेजी तथा तथाकथित तीसरी दुनिया के देशों की भाषाओं की मुठभेड़ स्वतंत्रता और समानता की परिस्थितियों में नहीं हुई। अंग्रेजी, फ्रेंच और पुर्तगाली लोगों ने तीसरी दुनिया के देशों में बाइबल और तलवार के आगमन

की घोषणा के साथ प्रवेश किया। वे यहां सोने की तलाश में आए, काले सोने को जंजीरों में जकड़ने आए, कारखानों और बागानों में पसीने के रूप में चमचमाते सोने को कैद करने के लिए आए। अगर बंदूक ने इस सोने के खनन में उन्हें मदद पहुंचाई, जिसके जरिए उन्होंने इन खानों के मालिकों को राजनीतिक बंदी बना लिया तो भाषा ने इस बंदियों की संस्कृति, उनके मूल्य और इस प्रकार उनके दिमाग पर कब्जा करने का काम किया। यह प्रयास दो तरीकों से किया गया और ये दोनों तरीके एक ही प्रक्रिया के अलग-अलग रूप हैं।

पहली प्रक्रिया गुलाम देशों की भाषाओं का दमन करने से संबंधित थी। इस प्रकार इन भाषाओं द्वारा संचालित संस्कृति और इतिहास को कूड़े के ढेर में फेंक दिया और वहां बर्बाद होने के लिए छोड़ दिया गया। इन भाषाओं को बेबल की अंधेरी मीनार से अबोधगम्य महसूस किया गया। केन्या में जिस माध्यमिक स्कूल मे मैं पढ़ने गया, वहां हमे एक प्रार्थना सिखाई जाती थी, जिसमें अंधकार से मुक्ति की चीख थी। हर रोज सवेरे हमें यूनियन जैक के सामने खड़ा होकर पहले अपनी शारीरिक स्वच्छता की जांच करानी पड़ती थी और इसके बाद समूचा स्कूल चर्च में प्रवेश करता था। जहां हम गाते थे चारों तरफ फैले अंधकार से निकलने का हमें प्रकाश दिखाएं, प्रभु हमारा मार्गदर्शन करें। हमारी अपनी भाषाएं उस अंधकार का हिस्सा बन गई थीं। हमारी भाषाओं का दमन कर दिया गया था, ताकि गुलाम लोग अपने खुद के आईने में न तो अपने को देख सकें और न अपने दुश्मनों को।

गुलाम बनाने का दूसरा तरीका विजेता की भाषा के महत्व को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करना था। इसे जीते हुए की भाषा बना दिया गया था। जनता के समूह से अलग करके जिन्हें स्कूली व्यवस्था में शामिल कर लिया गया था, उन्हें नए आईने दिए गए थे, जिसमें वे अपनी और अपनी जनता की तस्वीरें और साथ ही उनकी भी तस्वीरें देख सकें, जिन्होंने यह आईना दिया था। दूसरे शब्दों में कहें तो उन्हें एक भाषा दी गई - अंग्रेजी अथवा फ्रेंच अथवा पुर्तगाली। इस प्रकार बेबेल की अंधेरी मीनार से बच निकलने के लिए भाषिक साधनों से लैस नई व्यवस्था के चाकरों के रूप में जिन्हें अभिषिक्त किया गया अथवा दो अभिषिक्त होने के लिए तैयार हुए उनके मानस को उस दुनिया और उस इतिहास से व्यवस्थित रूप से अलग कर दिया गया, जिसकी वाहक उनकी मूल भाषाएं थीं। वे कहीं दूर पहाड़ी पर नियोन रोशनी में चमचमाते एक अक्षर 'यूरोप' को निहारने लगे अथवा इस अक्षर को देखने के लिए प्रेरित किए गए। इसके बाद से यूरोप और उसकी भाषाएं समूचे ब्रह्मांड के केंद्र में स्थापित हो गईं।

फ्रेंच भाषा ने, जो अपनी संस्कृति की दार्शनिक और सौंदर्यबोधी परम्पराओं के प्रति निष्ठावान थी, समूची प्रक्रिया को एक नाम दिया - एसीमिलेशन यानी स्वांगीकरण। अंग्रेजी भाषा ने, जिसका दार्शनिक और सौंदर्यबोधी रुझान अपेक्षाकृत कम था, इसे नाम दिया 'शिक्षा'। लेकिन सैनिक से प्रशासक की हैसियत में आए लुगार्ड ने, जिसके व्यक्तित्व में एक सैनिक का अक्खड़पन बरकरार था, इस व्यावहारिक शिक्षा कार्यक्रम के पीछे छिपे उद्देश्य को यानी 'परोक्ष शासन' को समझाने की कुंजी दी, जिसे प्रायः टुकड़ों-टुकड़ों में परिभाषित किया गया। इसने अफ्रीकी कबीलों के सरदारों को अपनी संस्कृति में शामिल करने के इस तरीके को ही यह नाम दिया था और इसी तरीके ने अंग्रेजों को अफ्रीका में शासन करना आसान बनाया। सच्चाई यह है कि शुरू में लुगार्ड ने जिन लोगों को नियुक्त किया था, उनके मुकाबले बाद की शिक्षा व्यवस्था ने और ज्यादा निष्ठावान सरदार पैदा किए। असल बात यह थी कि अंग्रेजी भाषा में जिसको जितनी ही ज्यादा महारत हासिल थी, उसे उतना ही उपयुक्त माना जाने लगा।

डीकोलोनाइजिंग दि माइंड नामक पुस्तक में मैंने यह बताया है कि नई भाषा अपनाने के साथ ही हमारी खुद की भाषाओं के साथ अलगाव की प्रक्रिया कैसे शुरू हो गई। मैंने उन घटनाओं का जिक्र किया है, जिनमें अपनी अफ्रीकी भाषाएं बोलने वाले बच्चे दंडित किए जाते थे। प्रायः हमें बेंतों से मारा जाता था या एक तख्ती पकड़ा दी जाती थी, जिसे लेकर हम अपने साथ घूमते थे और उस तख्ती पर लिखा होता था - मैं मूर्ख हूं अथवा मैं एक गध ाा हूं। कुछ मामलों में रद्दी की टोकरी से कागज के टुकड़े निकाल कर हमारे मुंह में ठूंस दिए जाते थे और फिर उन टुकड़ों को एक मुंह से निकाल कर दूसरे लड़के के मुंह में डाला जाता था और यह सिलसिला उस अंतिम लड़के तक चलता था, जो अपनी भाषा बोलने का दोषी पाया गया हो। हमारी भाषाओं के संदर्भ में अपमान की यह श्रृंखला एक खास बात थी। जो आवाज निरंतर हमारे कानों तक पहुंचती थी, वह थी, 'उस पहाड़ी को गौर से देखो' और यह वही पहाड़ी थी, जहां 'यूरोप' शब्द चमक रहा था और जिसका प्रवेश द्वार अंग्रेजी भाषा से होकर जाता था। कला और विज्ञान के समूचे ज्ञान की वाहक के रूप में अंग्रेजी भाषा को स्थापित किया गया। ग्रीक परम्परा के अनुसार आर्कमडीज ने दुनिया को हिला दिया होता, बशर्ते उनके पास खड़े होने के लिए ठोस जमीन होती। 20वीं शताब्दी के अफ्रीका में दुनिया को हिलाने के लिए उन्हें यही सलाह दी गई होती कि वह अंग्रेजी भाषा की ठोस जमीन पर खड़े हों। निश्चय ही हममें से कुछ लोगों को अंग्रेजी के बारे में यह आभास दिया गया जैसे यह एक ऐसी भाषा हो, जिसका प्रयोग ईश्वर करता हों।

अंग्रेजी को जो हमारे अध्यापक थे (यह विडंबना ही है कि उनमें से एक स्कॉटलैंड के थे) वह हमसे कहा करते थे कि अंग्रेजी का इस्तेमाल कर हम ईसा मसीह के पदचिन्हों का अनुसरण करें। जैसा कि आप जानते हैं कि जब कोई भी व्यक्ति किसी भाषा को नया-नया सीखता है तो उसके अंदर यह प्रवृति होती है कि वह भारी-भरकम और लंबे-चौड़े शब्दों का इस्तेमाल करे, क्योंकि इससे उसके विद्वान होने का आभास मिलता है। अध्यापक हमें बताते

थे कि ईसा मसीह बहुत सरल अंग्रेजी बोलते थे। बाइबल में अंग्रेजी साहित्य के सबसे लंबे और सबसे छोटे वाक्य देखने को मिलते हैं। फिर कोई छात्र उन्हें याद दिलाता था कि ईसा मसीह संभवतः हेब्रू भाषा में बोलते थे और यह कि जिस बाइबल का अनुवाद किंग जेम्स संस्करण के रूप में उपलब्ध है। वह संभवतः हेबू भाषा में लिखा गया होगा।

आप सोचते होंगे कि मैं अंग्रेजी भाषा के बारे में उन प्रवृतियों का जिक्र कर रहा हूं जो 30 वर्ष पूर्व प्रचलित थीं। आपका यह सोचना बिल्कुल गलत है। अभी हाल में जब मैं बर्लिन जा रहा था और मेरे मस्तिष्क में इस सेमिनार का विषय गूंज रहा था, मेरे हाथ 7 अक्तूबर 1988 का अखबार 'इवनिंग स्टैंडर्ड' लगा जो लंदन से प्रकाशित होता है। इसमें मुझे एक लेख दिखाई दिया जो ब्रिटिश शिक्षा मंत्री केनेथ बेकर की सोवियत यात्रा से संबंधित था। लेख में बताया गया था कि बेकर को यह देखकर कितना आश्चर्य हुआ कि सोवियत संघ के कुछ इलाकों में भी अंग्रेजी बोली जाती है : 'जरा खुद सोचिए। मैं उस समय नोवोसीबिर्स्क में था। किसी भी स्थान से दो हजार मील की दूरी पर और फिर भी यहां के लोग बड़े आराम से अंग्रेजी बोल सकते थे। ये लोग न तो कभी इंग्लैंड गए थे और न अमरीका, लेकिन इन्होंने हमारी श्रेष्ठ पुस्तकें पढ़ी थीं।' बात सही है। कोई भी समूह अगर किसी दूसरे समूह की भाषा सीखता है तो एक सकारात्मक बात है। लेकिन क्या वजह है कि नोवोसीबिर्स्क के नागरिक अंग्रेजी का कौशल विकसित करने के लिए इतनी मेहनत कर रहे थे? इवनिंग स्टैंडर्ड के उसी अंक से केनेथ बेकर को उद्धृत किया जाए, तो पता चलता है कि इसके पीछे एक गंभीर उद्देश्य है : 'रूसी लोग इंग्लैंड को प्रगति के साथ जोड़ कर देखते हैं। इसलिए उन्होंने उनकी अंग्रेजी भाषा पर जमकर मेहनत की। वे चाहते हैं कि पुराने घिसे-पिटे अधिनायकत्व वाले राज्य द्वारा नियंत्रित समाज से छुटकारा मिले।' अब आप इसे खुद ही समझिए। समाजवाद को, जो महज 70 वर्ष पुराना है घिसी-पिटी व्यवस्था कहा गया है और पूंजीवाद को, जो 400 वर्ष पुराना है, आधुनिक मान लिया गया है। लेकिन यहां विचारणीय मुद्दा यह है कि आज अंग्रेजी को वह साधन बना दिया गया है, जो समाजवाद के 'अंधकार' से लोगों को आधुनिक पूंजीवाद के 'प्रकाश' की ओर ले जाए।

अब मैं बहुत संक्षेप में आपको यह बताना चाहूंगा कि किस प्रकार हममें से कुछ को अंग्रेजी भाषा की मदद से 19वीं शताब्दी वाले अफ्रीका की अंधेरी मीनारों से निकाल कर 20वीं शताब्दी वाले औपनिवेशक अफ्रीका की आधुनिकता के संसार में ले जाया गया। जिन दिनों मैं प्राइमरी स्कूल में पढ़ता था, हमें एक पुस्तक 'आक्सफोर्ड रीडर्स फार अफ्रीका' से अंग्रेजी पढ़ाई जाती थी। हम लोग जॉन नामक एक लड़के और जोन नामक एक लड़की की कहानी पढ़ते थे और हुआ यह कि अपने गांव में रहते हुए ही मैं यह तो जान गया था कि आक्सफोर्ड नाम की एक जगह है, जहां दोनों बच्चे पैदा हुए थे और रीडिंग नाम की एक जगह है जहां जॉन और जोन पढ़ाई के लिए स्कूल जाते थे, लेकिन मैं केन्या के किसी और शहर या कस्बे का नाम नहीं जानता था। इस पुस्तक के हम नए पाठकों को जॉन और जोन के पीछे-पीछे हर जगह ले जाया जाता था। एक दिन हमें एक और शहर में ले जाया गया जिसका नाम लंदन था। फिर एक बार हम चिड़ियाघर गए और टेम्स नदी के तट पर टहलते रहे। यह गर्मियों की छुट्टियां थी। न जाने कितनी बार अंग्रेजी की इस पाठ्य पुस्तक के पृष्ठों के माध्यम से हमें टेम्स नदी और ब्रिटेन के संसद भवन की चमक दिखाई दी। यहां तक कि आज भी जब मैं टेम्स नदी का नाम सुनता हूं या इसके आसपास यात्रा करता हूं तो मुझे जॉन और जोन की याद आ जाती है। आज भी आक्सफोर्ड का मतलब जितना विद्वता के लिए होना चाहिए जोकि सचमुच है भी, उससे ज्यादा इसका मतलब मेरे लिए प्राइमरी स्कूल की पाठ्य पुस्तक में वर्णित जॉन और जोन के निवास स्थान के रूप में दिखाई देता है।

मुझे आप गलत न समझें। मैं इस बात को कतई बुरा नहीं मानता कि किसी भाषा को उस भौगोलिक, सांस्कृतिक अथवा ऐतिहासिक परिवेश में रखकर पढ़ाया जाए, जहां से वह उपजी है। आखिर किसी भाषा के संप्रेषक पक्ष को इसके सांस्कृतिक प्रतीकों से अलग नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी भाषा को टेम्स से, फ्रेंच भाषा को एफील टावर से, इतावली को पीजा की टेढ़ी मीनार से, चीनी भाषा को चीन की महान दीवार से, अरबी को मक्का से अथवा किस्वाहिली को मोम्बासा से अलग नहीं किया जा सकता। किसी भाषा को उसकी संस्कृति के संदर्भ में जानना उन लोगों के प्रति श्रद्धांजलि व्यक्त करना है, जिनकी यह भाषा है और यह एक अच्छी बात है। हम लोगों के लिए जो भूतपूर्व उपनिवेशों के हैं, भाषाओं के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध विकसित करने में गड़बड़ी इस तथ्य ने पैदा की कि यूरोप की भाषा को, यहां अंग्रेजी को, इस तरह हमें पढ़ाया गया जैसे यह हमारी अपनी भाषा हो, इस तरह पढ़ाया गया गोया अफ्रीका के पास साम्राज्यवादियों द्वारा लाई गई भाषा के अलावा जिस पर 'मेड इन यूरोप' लिखा हो, अपनी कोई खुर्द की जुबान ही न हो।

इस प्रकार अंग्रेजी तथा अफ्रीकी भाषाओं के बीच कभी ऐसा मिलन नहीं हुआ हो समानता, स्वतंत्रता और जनतंत्र की स्थितियों में हुआ हो। बाद के वर्षो में जितनी भी विकृतियां देखने को मिलीं, उनकी जड़ में यह तथ्य है। हमारी भाषाएं अंग्रेजी के साथ इस तरह मिलीं जैसे अंग्रेजी किसी विजेता राष्ट्र की भाषा हो और हमारी भाषा किसी पराजित देश की। कोई भी उत्पीड़क भाषा खास तौर से अपने साहित्य में अनिवार्यतः विजित राष्ट्र की नस्लवादी और नकारात्मक छवि को प्रस्तुत करती है और इस मामले में अंग्रेजी अपवाद नहीं है। मैं भाषा के इस पहलू पर यहां विस्तार में नहीं जाना चाहता। इस संदर्भ में किए गए अनेक अध्ययनों में इसे स्पष्ट किया गया है। यहां इतना ही कहना काफी होगा कि इस

आक्रामक छवि को देखने के लिए अंग्रेजी भाषा में लिखी गई स्कूली पाठ्य पुस्तकों पर निगाह डाल लें, जो एल्सपेथ हक्सले, कैरेन ब्लिक्सेन, रायडर हेगर्ड, रॉबर्ट रूअर्क, निकोलस मोंसार्राट आदि द्वारा तैयार की गई हैं। जरा कल्पना कीजिए कि अगर सारी अफ्रीकी भाषाएं समाप्त हो गई होतीं तो अफ्रीका की जनता को खुद को एक ऐसी भाषा में परिभाषित करना पड़ता, जिसके पास अफ्रीका की इतनी नकारात्मक अवधारणा विरासत में मिली है।

अंग्रेजी तथा अन्य उत्पीड़क भाषाओं द्वारा हमारी भाषाओं को पूरी तरह निगलने से गांव और कस्बों में रहने वाले जनसमुदाय ने बचाया, जिसने राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में पूरी तरह आत्मसमर्पण करने से इन्कार कर दिया, जिसने हमारी अपनी भाषाओं में सांस लेना जारी रखा और इस प्रकार इन भाषाओं में रचित इतिहासों और संस्कृतियों को जीवित रखा। इस प्रकार तीसरी दुनिया के लोगों ने अपनी आत्मा को अंग्रेजी, फ्रेंच अथवा पुर्तगाली भाषाओं के समक्ष आत्मसमर्पण करने से बराबर रोका।

लेकिन तीसरी दुनिया अकेला वह स्थान नहीं था, जहां अंग्रेजी ने दूसरे लोगों की भाषाओं की कब्रगाह पर फलने-फूलने की कोशिश की। यहां तक कि ब्रिटेन में भी मैंने उन क्षेत्रों से इस तरह की शिकायतें सुनी हैं, जहां उन क्षेत्रों की मूल भाषाओं को अंग्रेजी ने निगल लिया अथवा ऐसे क्षेत्रों की शिकायत सुनी है, जहां वे अपनी भाषाओं को मारे जाने और सदा के लिए दफनाए जाने के खिलाफ निर्णायक संघर्ष में लगे हुए हैं।

एक बार फिर मैं यह बताना चाहूंगा कि मै उन शिकायतों की बात नहीं कर रहा हूं, जो कई वर्ष पुरानी हैं। पश्चिमी बर्लिन से वापस लौटते समय मेरे हाथ 21 अक्तूबर 1988 का अखबार 'मार्निंग स्टार' लगा, जिसमें वेल्श लैंग्वेज सोसायटी के लिए मेरीएरिड का एक लेख था। इस लेख में उन्होंने वेल्श भाषा के निरंतर ह्रास पर क्षोभ व्यक्त किया :

हाल के वर्षों में ग्रामीण क्षेत्रों का, जिन्हें दशकों से इस भाषा का गढ़ माना जाता था, पूरी तरह अंग्रेजीकरण हो गया है। यहां के साधारण मजदूर को भी बड़े योजनाबद्ध ढंग से उसके मूल निवास से हटा दिया गया है।

शायद कुछ पाठक यह पूछ रहे हों कि वेल्श जैसी भाषा को बनाए रखना इतना महत्वपूर्ण क्यों होना चाहिए।

अगर आप यह मानते हैं कि किसी भी जनता के पास अपने भविष्य को आकार देने के लिए अपने अतीत की जानकारी होना महत्वपूर्ण है तो यह बात प्रासंगिक हो जाती है। अनेक पीढ़ियों से वेल्श का मजदूर वर्ग पूरी तरह वेल्श भाषा और संस्कृति पर निर्भर रहा है।

अब ऐसा लगता है कि वेल्श में वेल्श भाषा के जीवन के लिए खतरा पैदा हो गया है। निश्चय ही यह ब्रिटेन के इस खास हिस्से में 'यप्पीकरण' का दुष्परिणाम है। अगर यह भाषा मर गई तो अनेक लोगों के लिए यहां की समूची जनता का इतिहास एक बंद पुस्तक की तरह हो जाएगा।

एक सोशलिस्ट होने के नाते हम जानते हैं कि पूंजीवादी संस्कृति हमेशा मजदूर वर्ग को उसके खुद के इतिहास में उचित स्थान मिलने से वंचित रखना चाहती है ताकि वर्तमान में संघर्ष की जो निरंतरता है, उसके लिए वह प्रेरणा स्रोत न बन सके। इन्हीं कारणों से भाषा से भी उन्हें वंचित रखा जाता है।

भाषाएं न तो कभी बूढ़ी होती हैं और न मरती हैं। वे अपनी संरचना में किसी तात्विक दोष के कारण 'आधुनिक युग' के लिए अप्रासंगिक भी नहीं होती।

वे तभी गुम होती है, जब समाज के प्रभुत्वकारी वर्ग के पास उनकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती।

वेल्श भाषा के पतन की जड़ें इन राष्ट्रीयताओं के बीच मौजूद असमानता में हैं जो दोनों भाषाई क्षेत्रों में निवास करती हैं। यहां तक कि केनेथ बेकर ने भी रूस में अंग्रेजी के प्रसार की चर्चा करते हुए यह नहीं कहा कि (*इवनिंग स्टैंड* की रिपोर्ट से तो यह पता नहीं चलता) सोवियत लोग प्रगति के लिए ब्रिटेन की ओर देखते थे। वे अंग्रेजी भाषा के मूल स्थान के रूप में इंग्लैंड को निहारते थे।

आज पश्चिम यूरोपीय भाषाएं और अफ्रीकी भाषाएं एक-दूसरे के संदर्भ में जहां हैं वहां इसलिए नहीं हैं क्योंकि वे मूल रूप से प्रगतिशील अथवा प्रतिगामी हैं बल्कि इसलिए हैं, क्योंकि एक तरफ उत्पीड़न का इतिहास है और दूसरी तरफ उस उत्पीड़न के खिलाफ प्रतिरोध का इतिहास है। उत्पीड़न का इतिहास बहुत पुराना हैं, लेकिन यह प्रतीकात्मक रूप में सबसे ज्यादा स्पष्ट 1884 के बर्लिन सम्मेलन में हुआ, जब अफ्रीका को यूरोप के देशों ने विभिन्न 'प्रभाव क्षेत्रों' में बांट दिया। आज हम देख सकते हैं कि अंग्रेजी भाषा ने ब्रिटेन और अमरीका के अपने गृहक्षेत्र से बाहर निकल कर विश्व के उन्हीं हिस्सों में पूरी तरह जड़ जमा लिया है जो पूरी तरह महारानी विक्टोरिया से लेकर रोनाल्ड रीगन तक फैले आंग्ल-अमरीकी आर्थिक और राजनीतिक साम्राज्य के भीतर हैं और ये हिस्से उल्लेखनीय हैं। यही वे क्षेत्र भी हैं, जिसमें नवउपनिवेशवाद ने गहरी जड़ें जमा रखी हैं। इन उपनिवेशवादों के शासक यह महसूस करते हैं कि उनका नजरिया भी वही है, जो अमरीका और ब्रिटेन के शासकों का नजरिया है। क्योंकि अनेक मामलों में भिन्न होते हुए भी उनके बीच एक समानता है और वह यह कि वे एक ही भाषा बोलते हैं और सारी दुनिया में अंग्रेजी भाषा सत्ताधारी वर्गों के मूल्यों के सहभागी हैं।

उस असमानता और उत्पीड़न के इतिहास के दुष्परिणामों को अफ्रीका के हर प्रभावित देश में देखा जा सकता है - खासतौर से विभिन्न वर्गों के बीच आंतरिक संबंधों और अन्य देशों के साथ बाह्य संबंधों के संदर्भ में। इन देशों के अंग्रेजी, फ्रेंच और पुर्तगाली भाषा को मुख्य स्थान हासिल है। निर्देश, प्रशासन, वाणिज्य, व्यापार और विदेश संचार के क्षेत्र में उन्हें सरकारी भाषा का दर्जा

प्राप्त है। संक्षेप में कहें तो ये भाषाएं सत्ता की भाषाएं हैं। लेकिन आज भी इन देशो में रहने वाली राष्ट्रीयताओं के अंदर इन भाषाओं को एक अल्पमत समूह ही बोलता है। अफ्रीका की बहुसंख्यक मजदूर वर्ग हमारी अफ्रीकी भाषाओं को बचाए हुए है और उनके बीच इसी का प्रचलन है। इसलिए आबादी का बहुमत केंद्रीय सत्ता से वंचित कर दिया गया है, क्योंकि सत्ता की भाषा पर उसे महारत हासिल नहीं है। उसे आधुनिक आविष्कारों में सार्थक ढंग से भाग लेने से भी वंचित रखा गया है। अंग्रेजी, फ्रेंच और पुर्तगाली वे भाषाएं हैं, जिनमें अफ्रीकी लोगों को शिक्षित किया गया है। इसी कारण विज्ञान और प्रोद्यौगिकी में हमारे अनुसंधान के नतीजे तथा सृजनात्मक कला में हमारी उपलब्धियां इन भाषाओं में सहेज कर रख दी गई हैं। इस प्रकार व्यापक ज्ञान का एक बहुत बड़ा हिस्सा अंग्रेजी, फ्रेंच और पुर्तगाल की भाषाई जेलों में कैद है। यहां तक कि हमारे पुस्तकालय भी सही अर्थों में अंग्रेजी भाषा (या फ्रेंच अथवा पुर्तगाली) के किले हैं, जिनमें देश की आबादी का बहुमत पहुंच ही नहीं सकता। इसलिए इन भाषाओं को पालने-पोसने से केवल अभिजात वर्ग और अंतर्राष्ट्रीय अंग्रेजी भाषी पूंजीपति वर्ग के बीच ही कारगर ढंग से संप्रेषण हो पाता है। संक्षेप में कहें तो अफ्रीका का अभिजात वर्ग भाषा के मामले में पूरी तरह अफ्रीका से कटा हुआ है और साथ ही पश्चिम के साथ बंधा हुआ है।

जहां तक अफ्रीका का विश्व के साथ बाहरी संबंधों का सवाल है, अफ्रीकी भाषाओं को शायद ही सम्मान का दर्जा हासिल हो। यहां भी उनका स्थान अंग्रेजी, फ्रेंच अथवा पुर्तगाली भाषा ने ले लिया है। संयुक्त राष्ट्र में एक भी अफ्रीकी भाषा को आधिकारिक भाषा का दर्जा नहीं प्राप्त है। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि पांचों महाद्वीपों में से अफ्रीका ही अकेला वह महाद्वीप है, जिसका भाषा के स्तर पर संयुक्त राष्ट्र में प्रतिनिधित्व नहीं है। निश्चय ही अब समय आ गया है कि किस्वाहिली या होजा, वोलोफ, शोना, अम्हरिक या सोमाली को संयुक्त राष्ट्र संगठन और इससे सम्बद्ध सभी संगठनों में आधिकारिक भाषाओं की श्रेणी में रखा जाए।

मैंने अभी तक अंग्रेजी भाषा की नस्लवादी परम्परा पर विचार किया है। अथवा इसकी ओर इशारा किया है। साम्राज्यवाद की एक भाषा के रूप में अंग्रेजी के साथ कुछ बीमारियों का जुड़े रहना लाजिमी है, लेकिन ब्रिटेन और अमरीका की जनता की भाषा के रूप में इसकी एक जनतांत्रिक परम्परा भी है जो ब्रिटिश और अमरीकी जनता के जनतांत्रिक संघर्षों और उनकी विरासत की अभिव्यक्ति करती है। अपनी जनतांत्रिक परम्परा में इसने मानवीय रचनात्मकता के सामूहिक कोष में योगदान किया है। मिसाल के तौर पर शेक्सपियर, मिल्टन, ब्लेक, शेली, डिकेंस, कोनरॉड, बर्नार्ड शा, ग्राइम ग्रीन आदि कुछ ऐसे नाम हैं, जिन्होंने कला के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। मुझे आश्चर्य नहीं हुआ कि जब केनेथ बेकर ने देखा कि साइबेरिया में सोवियत बच्चे अंग्रेजी भाषा के इन विद्वानों के साहित्य का अध्ययन कर रहे हैं। अगर उन्हें अफ्रीका के दूरदराज के गांव में भी जाने का मौका मिलता, तो वह देख पाते कि यहां के भी बच्चे किस तरह डिकेंस के साथ-साथ ब्रेख्त, बालजक, शोलोखोव और बेशक सेम्बेन ओस्मान, अलेक्स ला गुमा, वियरा तथा अन्य अफ्रीकी लेखकों की पुस्तकों को पढ़ने में लगे हुए हैं। इन लेखकों की अनेक रचनाएं अंग्रेजी अनुवाद के रूप में उपलब्ध हैं। अंग्रेजी भाषा का यह पक्ष महत्वपूर्ण है और अफ्रीकी भाषाओं सहित अन्य भाषाओं के लेखकों ने मानवता की सामूहिक विरासत को समृद्ध करने में जो उल्लेखनीय भूमिका निभाई है, उसका यह भी एक हिस्सा है। लेकिन जहां तक विश्वभाषा के रूप में अंग्रेजी का सवाल है, वह एक अलग मामला है।

अंग्रेजी, विश्व के लिए एक भाषा? अगर ऐसा हो जाए कि अपनी सीमाओं में रहने वाले सभी राष्ट्रीयताओं के लिए एक भाषा हो तो निश्चय ही दुनिया के प्रत्येक देश के लिए यह बहुत अच्छा होगा और अगर विश्व में कोई ऐसी भाषा हो, जिसमें पृथ्वी के सारे राष्ट्र एक-दूसरे से संवाद कर सकें तो यह तो और भी अच्छा होगा। देश के अंदर संप्रेषण की एक भाषा, विश्व के अंदर संप्रेषण की एक भाषा : यह सचमुच आदर्श स्थिति है और हमें इसके लिए संघर्ष करना चाहिए।

लेकिन उस भाषा को - चाहे वह जो भी हो - किसी एक देश या विश्व में अन्य भाषाओं की कब्रगाह में नहीं रोपा जाना चाहिए। विश्व में आज जो अंग्रेजी की स्थिति है, उस स्थिति तक पहुंचने के अपने अभियान में अंग्रेजी ने अन्य भाषाओं और संस्कृतियों पर कहर ढाया है, उससे बचना होगा। किसी एक भाषा की जिंदगी के लिए अनेक भाषाओं की मौत कभी भी शर्त नहीं हो सकती। इसके विपरीत लोगों के बीच संप्रेषण के लिए अगर कोई पारदेशीय या विश्व भाषा तैयार होती है तो उसे अन्य भाषाओं के जीवन से प्राणवायु मिलनी चाहिए। हम, मौजूदा पीढ़ी के लोगों को साम्राज्यवाद द्वारा थमाए गए विकास सिद्धांत के झूठे और खूनी तर्क से खुद से दूर रखना चाहिए। यह दावा कि एक व्यक्ति की स्वच्छता दूसरों पर धूल फैंकने पर निर्भर करती है कि कुछ व्यक्तियों का स्वास्थ्य इस पर निर्भर होना चाहिए कि वे अपना कोढ़ किस हद तक दूसरों पर डालते हैं कि कुछ लोगों अथवा कुछ राष्ट्रों की समृद्धि की जड़ें व्यापक जन समुदाय या राष्ट्रों की गरीबी में होनी चाहिए।

अतः विश्व के लिए किसी एक भाषा के अस्तित्व में आने और उसको व्यापक स्वीकृति मिलने की क्या उपयुक्त बुनियाद होगी?

सबसे पहले आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में सभी राष्ट्रों को पूर्ण स्वतंत्रता और समानता होनी चाहिए। इस तरह की समानता निश्चय ही भाषाओं की समानता में प्रतिबिंबित होगा। हम एक विश्व में रहते हैं। दुनिया की सभी भाषाएं मानव

इतिहास की वास्तविक उत्पाद हैं।

ये हमारी सामूहिक विरासत है। अनेक भाषाओं वाला विश्व विभिन रंगों वाले फूलों के मैदान जैसा होना चाहिए। कोई ऐसा फूल नहीं है। जो अपने रंग या आकार के कारण दूसरे फूल से बढ़कर हो। ऐसे सभी फूल अपने रंगों और आकारों की विविधता मे ंअपने सामूहिक 'पुष्पत्व' को व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार हमारी विभिन्न भाषाएं एक सामूहिकता के बोध को व्यक्त कर सकती हैं और उन्हें यह करना भी चाहिए। इसलिए हमें चाहिए कि हमारी सभी भाषाएं धरती के लोगों की एकता, हमारी समान मानवता और सबसे बढ़कर शांति, समानता, स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय के गीत गाएं। हमारी सभी भाषाओं को एक नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था की मांग में शामिल होना चाहिए।

इसके अलावा विभिन्न भाषाओं को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए कि वे दुभाषियों और अनुवादों के माध्यम से एक-दूसरे के साथ बातचीत करें। प्रत्येक देश को पांचों महाद्वीपों की भाषाओं के अध्यापन को प्रोत्साहन देना चाहिए। कोई कारण नहीं कि कोई बच्चा कम से कम तीन भाषाओं का अध्ययन न करे। अनुवाद और भाष्य करने की कला को स्कूलों में एक अनिवार्य विषय होना चाहिए पर दुख की बात है कि अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली और आमतौर पर अंग्रेजी संस्कृति में अनुवाद की कला को यह महत्व नहीं प्राप्त है जो अन्य कलाओं को प्राप्त है। अनुवादों की मदद से दुनिया की विभिन्न भाषाएं एक-दूसरे से बात कर सकती हैं। यूरोप की भाषाओं ने हमेशा एक-दूसरे से ऐसा संवाद बनाए रखा है कि आज रूसी, फ्रेंच या जर्मन साहित्य और दर्शन के सभी महत्वपूर्ण ग्रंथ अनुवादों की कृपा से इनमें किसी भी भाषा में उपलब्ध हैं। लेकिन अफ्रीकी भाषाओं और अंग्रेजी व फ्रेंच के बीच परस्पर अनूदित कृतियां बहुत कम उपलब्ध हैं और अफ्रीकी जीवन पर अंग्रेजी और फ्रेंच के औपनिवेशक प्रभुत्व ने अफ्रीकी भाषाओं को एक-दूसरे के प्रति इतना शंकालु बना दिया, जिससे शायद ही कोई अंतर अफ्रीकी संवाद बनाया जा सका। जो भी हो, राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर यदि कभी संभव हुआ तो बहुत थोड़े संसाधनों को अफ्रीकी भाषाओं के विकास में लगाया गया। पढ़े-लिखे अफ्रीकियों की सर्वोतम प्रतिभाएं अंग्रेजी, फ्रेंच और पुर्तगाली को विकसित करने में लगी रहीं, लेकिन यह काम चाहे कितना भी कठिन क्यों न हो, अनुवाद के माध्यम से इन भाषाओं के बीच परस्पर संप्रेषण बहुत महत्वपूर्ण है। अगर इन सबके ऊपर कोई एक समान भाषा होती, तब तो विश्व की विभिन्न भाषाएं इस अंतर्राष्ट्रीय समान भाषा की मदद से एक-दूसरे के साथ संवाद कायम कर लेतीं। यदि ऐसा होता तो हम एक ऐसी समान विश्व संस्कृति के लिए वास्तविक बुनियाद रख पाते, जिसकी जड़ें विशिष्ट अनुभवों और भाषाओं वाले विश्व समुदाय के अंदर गहरी जमीं होती और जो इनसे ही अपने लिए जीवन शक्ति लेता। हमारे अंतर्राष्ट्रीयतावाद की जड़ें सही अर्थों में विश्व की जनता में होनी चाहिएं।

जब राष्ट्रों के बीच सही अर्थों में आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समानता होगी और जनतंत्र का अस्तित्व होगा, तब कोई कारण नहीं कि विश्व भाषा के रूप में किसी भाषा के विकसित होने से किसी राष्ट्र, राष्ट्रीयता या जनता को भय लगे - भले ही विश्व भाषा के रूप में किस्वाहिली, चीनी, माओरी, स्पानी या अंग्रेजी ही क्यों न हो। विश्व के लिए एक भाषा? भाषाओं का एक विश्व! दोनों धारणाएं एक-दूसरे से अलग नहीं हैं बशर्ते राष्ट्रों के बीच स्वतंत्रता, समानता, जनतंत्र और शांति हो।

इस तरह के विश्व में अन्य भाषाओं की तरह अंग्रेजी अपना आवेदन प्रस्तुत कर सकती है और अन्य भाषाओं तथा जनता के विरुद्ध साम्राज्यवादी आक्रमण के इतिहास के बावजूद अंग्रेजी एक विश्वास-योग्य उम्मीदवार हो सकती है। इस बीच ऐसे आवेदकों को अपनी उन खामियों को दूर करने का अथक प्रयास करना होगा, जिनके लिए वे बदनाम हैं। मसलन, नस्लवाद, यौनवाद, अंधराष्ट्रवाद और अन्य राष्ट्रीयताओं तथा जातियों की नकारात्मक छवि प्रस्तुत करना ताकि विश्व की भाषा के रूप में स्वीकार्य होने के मानदंडों को पूरा कर सकें। इस मामले में विश्व भाषा के लिए किस्वाहिली एक शानदार उम्मीदवार हो सकती है। इसे एक लाभ तो प्राप्त है कि इसने कभी भी दूसरी भाषाओं की कब्रगाह पर अपने को विकसित नहीं किया। किसी तरह के अंधराष्ट्रवाद का प्रदर्शन किए बिना किस्वाहिली ने अफ्रीका में और विश्व में अपने लिए स्थान बनाया। किस्वाहिली की शक्ति इसके आर्थिक, राजनीतिक या सांस्कृतिक बड़बोलेपन पर नहीं टिकी है। इसका अन्य संस्कृतियों के उत्पीड़न अथवा दमन का कोई इतिहास नहीं है और फिर भी किस्वाहिली आज पूर्वी, मध्य और दक्षिणी अफ्रीका में तथा विश्व के अन्य हिस्सों में एक प्रमुख भाषा के रूप में बोली जाती है।

मैं अंग्रेजी, फ्रेंच, पुर्तगाली या अन्य किसी भी भाषा के खिलाफ नहीं हूं। जब तक उनका स्वरूप भाषा का है और जब तक वे अन्य राष्ट्रों, राष्ट्रीयताओं और भाषाओं का उत्पीड़न नहीं करतीं, वे वैध हैं। लेकिन अगर किस्वाहिली अथवा किसी दूसरी अफ्रीकी भाषा को विश्व की भाषा बनने का अवसर मिल सके तो यह अफ्रीका के देशों और वहां की जनता और अन्य महाद्वीपों के बीच मानवीय संबंधों के नए युग के उदय का प्रतीक होगा। इन्हीं कारणों से मैं किस्वाहिली को विश्व की भाषा बनाए जाने का प्रस्ताव करता हूं।

साभार : *औपनिवेशक मानसिकता से मुक्ति, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन*

राजभाषा संबंधी संवैधानिक प्रावधान

हिन्दी को भारत की राजभाषा के रूप में 14 सितम्बर सन् 1949 को स्वीकार किया गया। इसके बाद संविधान में राजभाषा के सम्बन्ध में धारा 343 से 352 तक की व्यवस्था की गयी। धारा 343(1) के अनुसार भारतीय संघ की राजभाषा हिन्दी एवं लिपि देवनागरी होगी। संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिये प्रयुक्त अंकों का रूप भारतीय अंकों का अंतरराष्ट्रीय स्वरूप (अर्थात 1, 2, 3 आदि) होगा।

संसद का कार्य हिंदी में या अंग्रेजी में किया जा सकता है। परन्तु राज्यसभा के सभापति महोदय या लोकसभा के अध्यक्ष महोदय विशेष परिस्थिति में सदन के किसी सदस्य को अपनी मातृभाषा में सदन को संबोधित करने की अनुमति दे सकते हैं।

संघ की राजभाषा (अनुच्छेद 343)

(1) संघ की राजभाषा हिंदी और लिपि देवनागरी होगी, संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग होने वाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप होगा।

(2) खंड (1) में किसी बात के होते हुए भी, इस संविधान के प्रारंभ से पंद्रह वर्ष की अवधि तक संघ के उन सभी शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा जिनके लिए उसका ऐसे प्रारंभ से ठीक पहले प्रयोग किया जा रहा था; परन्तु राष्ट्रपति उक्त अवधि के दौरान, आदेश द्वारा, संघ के शासकीय प्रयोजनों में से किसी के लिए अंग्रेजी भाषा के अतिरिक्त हिंदी भाषा का और भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप के अतिरिक्त देवनागरी रूप का प्रयोग प्राधिकृत कर सकेगा।

(3) इस अनुच्छेद में किसी बात के होते हुए भी, संसद उक्त पन्द्रह वर्ष की अवधि के पश्चात, विधि द्वारा (क) अंग्रेजी भाषा का, या

(ख) अंकों के देवनागरी रूप का, ऐसे प्रयोजनों के लिए प्रयोग उपबंधित कर सकेगी जो ऐसी विधि में विनिर्दिष्ट किए जाएं।

राजभाषा के संबंध में आयोग और संसद की समिति (अनुच्छेद 344)

(1) राष्ट्रपति, इस संविधान के प्रारंभ से पांच वर्ष की समाप्ति पर और तत्पश्चात ऐसे प्रारंभ से दस वर्ष की समाप्ति पर, आदेश द्वारा, एक आयोग गठित करेगा जो एक अध्यक्ष और आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट विभिन्न भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे अन्य सदस्यों से मिलकर बनेगा जिनको राष्ट्रपति नियुक्त करे और आदेश में आयोग द्वारा अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया परिनिश्चित की जाएगी।

(2) आयोग का यह कर्तव्य होगा कि वह राष्ट्रपति को-

(क) संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए हिंदी भाषा के अधिकाधिक प्रयोग,

(ख) संघ के सभी या किन्हीं शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर निर्बंधनों,

(ग) अनुच्छेद 348 में उल्लिखित सभी या किन्हीं प्रयोजनों के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा,

(घ) संघ के किसी एक या अधिक विनिर्दिष्ट प्रयोजनों के लिए प्रयोग किए जाने वाले अंकों के रूप,

(ड़) संघ की राजभाषा तथा संघ और किसी राज्य के बीच या एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच पत्रादि की भाषा और उनके प्रयोग के संबंध में राष्ट्रपति द्वारा आयोग को निर्देशित किए गए किसी अन्य विषय, के बारे में सिफारिश करे।

(3) खंड (2) के अधीन अपनी सिफारिशें करने में, आयोग भारत की औद्योगिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक उन्नति का और लोक सेवाओं के संबंध में अहिंदी भाषी क्षेत्रों के व्यक्तियों के न्यायसंगत दावों और हितों का सम्यक ध्यान रखेगा।

(4) एक समिति गठित की जाएगी जो तीस सदस्यों से मिलकर बनेगी जिनमें से बीस लोक सभा के सदस्य होंगे और दस राज्य सभा के सदस्य होंगे जो क्रमशः लोक सभा के सदस्यों और राज्य सभा के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा निर्वाचित होंगे।

(5) समिति का यह कर्तव्य होगा कि वह खंड (1)के अधीन गठित आयोग की सिफारिशों की परीक्षा करे और राष्ट्रपति को उन पर अपनी राय के बारे में प्रतिवेदन दे।

(6) अनुच्छेद 343 में किसी बात के होते हुए भी, राष्ट्रपति खंड (5) में निर्दिष्ट प्रतिवेदन पर विचार करने के पश्चात उस संपूर्ण प्रतिवेदन के या उसके किसी भाग के अनुसार निदेश दे सकेगा।

राज्य की राजभाषा या राजभाषाएं(अनुच्छेद 345)

अनुच्छेद 346 और अनुच्छेद 347 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, किसी राज्य का विधान-मंडल, विधि द्वारा, उस राज्य में प्रयोग होने वाली भाषाओं में से किसी एक या अधिक भाषाओं को या हिंदी को उस राज्य के सभी या किन्हीं शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा या भाषाओं के रूप में अंगीकार कर सकेगाः

परंतु जब तक राज्य का विधान-मंडल, विधि द्वारा, अन्यथा उपबंध

न करे तब तक राज्य के भीतर उन शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा जिनके लिए उसका इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले प्रयोग किया जा रहा था।

एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच या किसी राज्य और संघ के बीच पत्रादि की राजभाषा(अनुच्छेद 346) : संघ में शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग किए जाने के लिए तत्समय प्राधिकृत भाषा, एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच तथा किसी राज्य और संघ के बीच पत्रादि की राजभाषा होगी।

परंतु यदि दो या अधिक राज्य यह करार करते हैं कि उन राज्यों के बीच पत्रादि की राजभाषा हिंदी भाषा होगी तो ऐसे पत्रादि के लिए उस भाषा का प्रयोग किया जा सकेगा।

किसी राज्य की जनसंख्या के किसी भाग द्वारा बोली जाने वाली भाषा के संबंध में विशेष उपबंध(अनुच्छेद 347) :

यदि इस निमित्त मांग किए जाने पर राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि किसी राज्य की जनसंख्या का पर्याप्त भाग यह

राजभाषा संकल्प, 1968

संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित निम्नलिखित सरकारी संकल्प आम जानकारी के लिए प्रकाशित किया जाता है -

संकल्प

“जबकि संविधान के अनुच्छेद 343 के अनुसार संघ की राजभाषा हिंदी रहेगी और उसके अनुच्छेद 351 के अनुसार हिंदी भाषा का प्रसार, वृद्धि करना और उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, संघ का कर्तव्य है।

1 यह सभा संकल्प करती है कि हिंदी के प्रसार एंव विकास की गति बढ़ाने के हेतु तथा संघ के विभिन्न राजकीय प्रयोजनों के लिए उत्तरोत्तर इसके प्रयोग हेतु भारत सरकार द्वारा एक अधिक गहन एवं व्यापक कार्यक्रम तैयार किया जाएगा और उसे कार्यान्वित किया जाएगा और किए जाने वाले उपायों एवं की जाने वाली प्रगति की विस्तृत वार्षिक मूल्यांकन रिपोर्ट संसद की दोनों सभाओं के पटल पर रखी जाएगी और सब राज्य सरकारों को भेजी जाएगी।

2. जबकि संविधान की आठवीं अनुसूची में हिंदी के अतिरिक्त भारत की 21 मुख्य भाषाओं का उल्लेख किया गया है , और देश की शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि इन भाषाओं के पूर्ण विकास हेतु सामूहिक उपाए किए जाने चाहिए।

यह सभा संकल्प करती है कि हिंदी के साथ-साथ इन सब भाषाओं के समन्वित विकास हेतु भारत सरकार द्वारा राज्य सरकारों के सहयोग से एक कार्यक्रम तैयार किया जाएगा और उसे कार्यान्वित किया जाएगा ताकि वे शीघ्र समृद्ध हो और आधुनिक ज्ञान के संचार का प्रभावी माध्यम बनें।

3. जबकि एकता की भावना के संवर्धन तथा देश के विभिन्न भागों में जनता में संचार की सुविधा हेतु यह आवश्यक है कि भारत सरकार द्वारा राज्य सरकारों के परामर्श से तैयार किए गए त्रि-भाषा सूत्र को सभी राज्यों में पूर्णत कार्यान्वित करने के लिए प्रभावी किया जाना चाहिए :

यह सभा संकल्प करती है कि हिंदी भाषी क्षेत्रों में हिंदी तथा अंग्रेजी के अतिरिक्त एक आधुनिक भारतीय भाषा के, दक्षिण भारत की भाषाओं में से किसी एक को तरजीह देते हुए, और अहिंदी भाषी क्षेत्रों में प्रादेशिक भाषाओं एवं अंग्रेजी के साथ साथ हिंदी के अध्ययन के लिए उस सूत्र के अनुसार प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

4. और जबकि यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि संघ की लोक सेवाओं के विषय में देश के विभिन्न भागों के लोगों के न्यायोचित दावों और हितों का पूर्ण परित्राण किया जाए

यह सभा संकल्प करती है कि-

(क) कि उन विशेष सेवाओं अथवा पदों को छोड़कर जिनके लिए ऐसी किसी सेवा अथवा पद के कर्त्तव्यों के संतोषजनक निष्पादन हेतु केवल अंग्रेजी अथवा केवल हिंदी अथवा दोनों जैसी कि स्थिति हो, का उच्च स्तर का ज्ञान आवश्यक समझा जाए, संघ सेवाओं अथवा पदों के लिए भती करने हेतु उम्मीदवारों के चयन के समय हिंदी अथवा अंग्रेजी में से किसी एक का ज्ञान अनिवार्यत होगा; और

(ख) कि परीक्षाओं की भावी योजना, प्रक्रिया संबंधी पहलुओं एवं समय के विषय में संघ लोक सेवा आयोग के विचार जानने के पश्चात अखिल भारतीय एवं उच्चतर केन्द्रीय सेवाओं संबंधी परीक्षाओं के लिए संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित सभी भाषाओं तथा अंग्रेजी को वैकल्पिक माध्यम के रूप में रखने की अनुमति होगी।”

चाहता है कि उसके द्वारा बोली जाने वाली भाषा को राज्य द्वारा मान्यता दी जाए तो वह निदेश दे सकेगा कि ऐसी भाषा को भी उस राज्य में सर्वत्र या उसके किसी भाग में ऐसे प्रयोजन के लिए, जो वह विनिर्दिष्ट करे, शासकीय मान्यता दी जाए।

उच्चतम न्यायालय, उच्च न्यायालयों आदि की भाषा

उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में और अधिनियमों, विधेयकों आदि के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा(अनुच्छेद 348)

(1) इस भाग के पूर्वगामी उपबंधों में किसी बात के होते हुए भी, जब तक संसद् विधि द्वारा अन्यथा
उपबंध न करे तब तक-

(क) उच्चतम न्यायालय और प्रत्येक उच्च न्यायालय में सभी कार्यवाहियां अंग्रेजी भाषा में होंगी,

(ख) (1) संसद् के प्रत्येक सदन या किसी राज्य के विधान-मंडल के सदन या प्रत्येक सदन में पुरःस्थापित किए जाने वाले सभी विधेयकों या प्रस्तावित किए जाने वाले उनके संशोधनों के,

(2) संसद या किसी राज्य के विधान-मंडल द्वारा पारित सभी अधिनियमों के और राष्ट्रपति या किसी राज्य के राज्यपाल द्वारा प्रख्यापित सभी अध्यादेशों के ,और

(3) इस संविधान के अधीन अथवा संसद या किसी राज्य के विधान-मंडल द्वारा बनाई गई किसी विधि के अधीन निकाले गए या बनाए गए सभी आदेशों, नियमों, विनियमों और उपविधियों के, प्राधिकृत पाठ अंग्रेजी भाषा में होंगे।

(2) खंड(1) के उपखंड (क) में किसी बात के होते हुए भी, किसी राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से उस उच्च न्यायालय की कार्यवाहियों में, जिसका मुख्य स्थान उस राज्य में है, हिन्दी भाषा का या उस राज्य के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग होने वाली किसी अन्य भाषा का प्रयोग प्राधिकृत कर सकेगाः

परंतु इस खंड की कोई बात ऐसे उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए किसी निर्णय, डिक्री या आदेश को लागू नहीं होगी।

(3) खंड (1) के उपखंड (ख) में किसी बात के होते हुए भी, जहां किसी राज्य के विधान-मंडल ने,उस विधान-मंडल में पुरःस्थापित विधेयकों या उसके द्वारा पारित अधिनियमों में अथवा उस राज्य के राज्यपाल द्वारा प्रख्यापित अध्यादेशों में अथवा उस उपखंड के पैरा (1अ) में निर्दिष्ट किसी आदेश, नियम, विनियम या उपविधि में प्रयोग के लिए अंग्रेजी भाषा से भिन्न कोई भाषा विहित की है वहां उस राज्य के राजपत्र में उस राज्य के राज्यपाल के प्राधिकार से प्रकाशित अंग्रेजी भाषा में उसका अनुवाद इस अनुच्छेद के अधीन उसका अंग्रेजी भाषा में प्राधिकृत पाठ समझा जाएगा।

भाषा से संबंधित कुछ विधियां अधिनियमित करने के लिए विशेष प्रक्रिया(अनुच्छेद 349)

इस संविधान के प्रारंभ से पंद्रह वर्ष की अवधि के दौरान, अनुच्छेद 348 के खंड (1) में उल्लिखित किसी प्रयोजन के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा के लिए उपबंध करने वाला कोई विधेयक या संशोधन संसद के किसी सदन में राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी के बिना पुरःस्थापित या प्रस्तावित नहीं किया जाएगा और राष्ट्रपति किसी ऐसे विधेयक को पुरःस्थापित या किसी ऐसे संशोधन को प्रस्तावित किए जाने की मंजूरी अनुच्छेद 344 के खंड (1) के अधीन गठित आयोग की सिफारिशों पर और उस अनुच्छेद के खंड (4) के अधीन गठित समिति के प्रतिवेदन पर विचार करने के पश्चात ही देगा, अन्यथा नहीं।

विशेष निदेश

व्यथा के निवारण के लिए अभ्यावेदन में प्रयोग की जाने वाली भाषा(अनुच्छेद 350) : प्रत्येक व्यक्ति किसी व्यथा के निवारण के लिए संघ या राज्य के किसी अधिकारी या प्राधिकारी को, यथास्थिति, संघ में या राज्य में प्रयोग होने वाली किसी भाषा में अभ्यावेदन देने का हकदार होगा।

क. प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की सुविधाएं(अनुच्छेद 350)

प्रत्येक राज्य और राज्य के भीतर प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी भाषाई अल्पसंख्यक-वर्गों के बालकों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था करने का प्रयास करेगा और राष्ट्रपति किसी राज्य को ऐसे निदेश दे सकेगा जो वह ऐसी सुविधाओं का उपबंध सुनिश्चित कराने के लिए आवश्यक या उचित समझता है।

ख. भाषाई अल्पसंख्यक-वर्गों के लिए विशेष अधिकारी(अनुच्छेद 350)

(1) भाषाई अल्पसंख्यक-वर्गों के लिए एक विशेष अधिकारी होगा जिसे राष्ट्रपति नियुक्त करेगा।

(2) विशेष अधिकारी का यह कर्तव्य होगा कि वह इस संविधान के अधीन भाषाई अल्पसंख्यक-वर्गों के लिए उपबंधित रक्षोपायों से संबंधित सभी विषयों का अन्वेषण करे और उन विषयों के संबंध में ऐसे अंतरालों पर जो राष्ट्रपति निर्दिष्ट करे,
राष्ट्रपति को प्रतिवेदन दे और राष्ट्रपति ऐसे सभी प्रतिवेदनों को संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाएगा और संबंधित राज्यों की सरकारों को भिजवाएगा।

हिंदी भाषा के विकास के लिए निदेश(अनुच्छेद 351)

संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिंदी भाषा का प्रसार बढ़ाए, उसका विकास करे जिससे वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना हिंदुस्तानी में और आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भारत की अन्य भाषाओं में प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात करते हुए और जहां आवश्यक या वांछनीय हो वहां उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे।

रसूल हमजातोव की कविता

मेरी मातृभाषा

हमारी नींदों में आते हैं
अजीबोगरीब ख़यालात
कल रात मैंने ख्वाब में देखा
कि मरा पड़ा हूँ
एक गहरे खड्ड के किनारे
सीने में धंसी है एक गोली।
हहराती-शोर मचाती
बह रही है कोई नदी पास में
मदद के लिये कर रहा हूँ
वेवजह इंतजार।
पड़ा हुआ हूँ धुल भरी धरती पर
धूल में मिलनेवाला हूँ शायद।
किसी को क्या पता
कि मैं मर रहा हूँ यहाँ पड़े-पड़े
कोई हमदर्द नहीं आसपास।
आकाश में मंडरा रहे हैं चील
और शमीली हिरने भर रही हैं कुलांचे।
कोई नहीं जो मातम मनाये
मेरी बेवक्त मौत पर कोई नहीं रोवनहार
न मां, न बीवी, न साथी-संगाती
न गांव-जवार के लोग-बाग।
पर ज्योंही मरने को तैयार हुआ
बेखबर और गुमनाम
कि कानों में पड़ी जानी-पहचानी आवाज
मेरी मातृभाषा, अवार भाषा में बतियाते
गुजर रहे थे दो लोग।
एक गहरे खड्ड में पड़ा
खत्म हो रहा हूँ मैं नाचीज
और वे मस्ती में बतियाए जा रहे हैं
किसी हसन की मक्कारी या
किसी अली की साजिश के किस्से।
जैसे ही मेरे कानों घुली
अवार भाषा की खुशनुमा बातचीत,
मेरी जान आ गयी वापस।
और महसूस हुआ जैसे
किसी हकीम, किसी वैद्य के पास
नहीं है कोई इलाज,
संजीवनी है तो बस अवार भाषा।
दूसरी कोई भाषा अपने खास अंदाज में
कर सकती है किसी दूसरे का उपचार,
लेकिन मैं ठहरा अवार।
अगर कल को मिट जाना
नियति है मेरी भाषा की,
तो मैं आज ही मर जाना चाहूँगा।
क्या फर्क पड़ता है अगर
नहीं गूँजती बड़ी महफ़िलों में,
पर मेरे लिये अपनी अवार भाषा
माँ के दूध के साथ हासिल अवार ही
सबसे महान है इस धरती पर!
आनेवाली नस्लें
सिर्फ तर्जुमा में पढ़ेंगी महमूद की शायरी?
क्या मैं आखिरी आदमी हूँ
अवार भाषा में लिखने
और समझे जाने लायक?
मैं प्यार करता हूँ जिन्दगी से
और पूरी दुनिया से
निहारता हूँ टकटकी लगाये
उसका सुन्दर सुहाना रूप।
लेकिन सबसे प्यारी, सबसे न्यारी
हमारी सोवियत भुमि
जिसका गुणगान किया मैंने
अपनी अवार भाषा में।
पूरब से पश्चिम तक विस्तृत
मेहनतकशों के इस आजाद देश पर
जान लुटाता हूँ मैं।
पर ख्वाहिश यही है मन में
कि मेरी कब्र बने उस जगह
जहाँ के लोग बोलते हों अवार।
और जमा हों वहाँ अवार लोग
बतियाएं आपस में मिलजुल
अवार भाषा में चर्चा करें
कि यहां लेटा है हमारा अपना कवि
रसूल, हमारे अपने कवि का बेटा और वारिस।

(अनुवाद- दिगम्बर)

सम्पर्क : 09818622601

कविताएं

हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल ।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल ।।

पढ़े संस्कृत जतन करि पंडित भे विख्यात ।
पै निज भाषा ज्ञान बिन कहि न सकत एक बात ।।

अंग्रेजी पढ़ि के जदपि सब गुन होत प्रबीन ।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत हीन के हीन ।।

नारि पुत्र नहिं समझहीं कछु इन भाषन माहिं ।
तासों इन भाषन सों काम चलत कछु नाहिं ।।

उन्नति पूरी है तबहि जब घर उन्नति होय ।
निज सरीर उन्नति किए रहत मूढ़ सब लोय ।।

पिता बिबिध भाषा पढ़े पुत्र न जानत एक ।
तासों दोउन मध्य में रहत प्रेम अविवेक ।।

गुरु सिखबत बहु भाँति लौ जदपि बालकन ज्ञान ।
पै माता-शिक्षा सरिस, होत तौन नहिं ज्ञान ।।

जब अति कोमल, जिय रहत तब बालक तुतरात ।
मूलत नहिं सो बात जो तबै सिखाई जात ।।

पढ़ो लिखो कोउ लाख बिध भाषा बहुत प्रकार ।
पै जबही कछु सोचिहो निज भाषा अनुसार।।

निज भाषा उन्नति बिना कबहुँ न ह्वैहै सोय ।
लाख अनेक उपाय यों भले करो किन कोय ।।

इक भाषा, इक जीव इक मति सब घर के लोग ।
तबै बनत है सबन सों मिटत मूढ़ता सोग ।।

और एक अति लाभ यह यामें प्रगट लखात ।
निज भाषा में कीजिये जो विद्या की बात ।।
बिबिध कला शिक्षा अमित ज्ञान अनेक प्रकार ।
सब देसन से लै करहु भाषा माँहि प्रचार ।।

भाषा सोधहु आपनी होई सबै एकत्र ।
पढहु पढावहु लिखहु मिलि छपवावहु कछु पत्र ।।

अंगरेजी अरु फारसी अरबी संस्कृत ढेर ।
खुले खजाने तिनहिं क्यों लूटत लावहु देर ।।

सबको सार निकाल कै पुस्तक रचहु बनाइ ।
छोटी बडी अनेक बिध बिबिध विषय की लाइ।।

मेटहु तम अज्ञान को सुखी होहु सब कोय।
बाल वृद्ध नर नारि सब बिद्या संजुत होय।।

फूट बैर को दूरि करि बाँधि कमर मजबूत।
भारत माता के बनो भ्राता पूत सपूत।।

करहु बिलम्ब न भ्रात अब उठहु मिटावहु सूल।
निज भाषा उन्नति करहु प्रथम जो सब को भूल।।

व्यवहार की भाषा

अंग्रेजी का प्रोफेसर यूरोप गया। उसके पास रिटर्न टिकट थी। उसका वहां कुछ समय रुकने का कार्यक्रम बनने के कारण रिटर्न टिकट वापिस करने के लिए एयरपोर्ट की खिड़की पर :
प्रोफेसर : excuse me. I want to return the ticket.
टिकट प्रदाता : It's return ticket. (उसकी टिकट वापिस कर देता है)
प्रोफेसर : excuse me. I want to return the ticket.
टिकट प्रदाता : It's return ticket. (उसकी टिकट फिर वापिस कर देता है)
दो-तीन बार कोशिश करने के बाद भी अपनी बात समझाने में कामयाब नहीं हुआ। यहां कार्यरत भारतीय सफाई कर्मचारी ने उसकी हालत देखी और स्थिति भांप कर उससे टिकट झपट ली और खिड़की के पास जाकर बोला।
सफाई कर्मचारी : ticket back, money back. प्रोफेसर को पैसे वापिस करते हुए सफाई कर्मचारी थोड़ा गुस्से में बोला कि यहां आने से पहले अंग्रेजी के दो अक्षर सीख लेते।

कविताएं

जश्ने-गालिब

साहिर लुधियानवी

इक्कीस बरस गुजरे आजादी-ए-कामिल को,
तब जाके कहीं हम को गालिब का ख्याल आया।
तुर्बत है कहाँ उसकी, मसकन था कहाँ उसका,
अब अपने सुखन परवर जहनों में सवाल आया।

सौ साल से जो तुर्बत चादर को तरसती थी,
अब उस पे अकीदत के फूलों की नुमाइश है।
उर्दू के ताल्लुक से कुछ भेद नहीं खुलता,
यह जश्न, यह हंगामा, खिदमत है कि साजिश है।

जिन शहरों में गुजरी थी, गालिब की नवा बरसों,
उन शहरों में अब उर्दू बे नाम-ओ-निशां ठहरी।
आजादी-ए-कामिल का ऐलान हुआ जिस दिन,
मातूब जुबां ठहरी, गद्दार जुबां ठहरी।

जिस अहद-ए-सियासत ने यह जिन्दा जुबां कुचली,
उस अहद-ए-सियासत को मरहूमों का गम क्यों है।
गालिब जिसे कहते हैं उर्दू ही का शायर था,
उर्दू पे सितम ढा कर गालिब पे करम क्यों है।

ये जश्न ये हंगामे, दिलचस्प खिलौने हैं,
कुछ लोगों की कोशिश है, कुछ लोग बहल जाएँ।
जो वादा-ए-फरदा, पर अब टल नहीं सकते हैं,
मुमकिन है कि कुछ अर्सा, इस जश्न पर टल जाएँ।

यह जश्न मुबारक हो, पर यह भी सदाकत है,
हम लोग हक़ीकत के अहसास से आरी हैं।
गांधी हो कि गालिब हो, इन्साफ की नजरों में,
हम दोनों के क़ातिल हैं, दोनों के पुजारी हैं।

तुर्बत= क़ब्र मसकन= निवास स्थान
अक़ीदत - श्रद्धा, वादा-ए-फरदा= कल के लिए
किया गया वायदा

(1968)

हमारी हिंदी

रघुवीर सहाय

हमारी हिंदी एक दुहाजू की नई बीबी है
बहुत बोलने वाली बहुत खानेवाली बहुत सोनेवाली

गहने गढ़ाते जाओ
सर पर चढ़ाते जाओ

वह मुटाती जाए
पसीने से गन्धाती जाए घर का माल मैके पहुँचाती जाए

पड़ोसिनों से जले
कचरा फेंकने को लेकर लड़े

घर से तो खैर निकलने का सवाल ही नहीं उठता
औरतों को जो चाहिए घर ही में है

एक महाभारत है एक रामायण है तुलसीदास की भी राध
ेश्याम की भी
एक नागिन की स्टोरी बमय गाने
और एक खारी बावली में छपा कोकशास्त्र
एक खूसट महरिन है परपंच के लिए
एक अधेड़ खसम है जिसके प्राण अकच्छ किये जा सकें
एक गुचकुलिया-सा आँगन कई कमरे कुठरिया एक के अंदर
एक
बिस्तरों पर चीकट तकिए कुरसियों पर गौंजे हुए उतारे कपड़े
फर्श पर ढंनगते गिलास
खूंटियों पर कुचौली चादरें जो कुएँ पर ले जाकर फींची जाएँगी

घर में सबकुछ है जो औरतों को चाहिए
सीलन भी और अंदर की कोठरी में पाँच सेर सोना भी
और संतान भी जिसका जिगर बढ गया है
जिसे वह मासिक पत्रिकाओं पर हगाया करती है
और जमीन भी जिस पर हिंदी भवन बनेगा

कहने वाले चाहे कुछ कहें
हमारी हिंदी सुहागिन है सती है खुश है
उसकी साध यही है कि खसम से पहले मरे
और तो सब ठीक है पर पहले खसम उससे बचे
तब तो वह अपनी साध पूरी करे। (1957)

कविताएं

तुतलाने की आवाज

भगवत रावत

बहुत दिनों से सुनी नहीं थी तुतलाने की आवाज

शायद बूढ़े होते जाने का तकाजा रहा हो
इसी खातिर मैने छान मारे
न जाने कितने घर कितने परिवार
न जाने कितने बच्चों को उठाया गोद में
किया जी भरकर उन्हें प्यार पर आ गया हैरत में जब
किसी बच्चे को पाया नहीं तुतलाता

और मां-बाप
यह बताते थकते नहीं थे कि उनका बच्चा है होनहार
वह कभी तुतलाया नहीं
पैदा होते ही इतनी साफ थी उसकी जुबान
कि बोलना सीख गया अंगरेजी इस तरह
मानो पिछले जन्म में रहा हो वहीं का

इस तरह मैंने जाना कि देश के होनहार बच्चे
अब बोली-बानियों में तुतलाते नहीं
पेट से ही अंगरेजी वर्णमाला ओर नर्सरी राइम्स
रटकर आते हैं और इशारा पाते ही बिना झिझके
घर आए मेहमान के सामने सुना देते हैं
अन्यथा उनका भावी जीवन
संदिग्ध माना जाता है

उन्हें तुतलाने की फुरसत की कहां
वे पैदा होते ही जान जाते हैं
एक दिन उन्हें अपनी धरती का अन्न-जल छोड़कर
कहां और जाना है
उन्हें अपना जीवन अलग ही बिताना है
वे जानते हैं उन्हें
धूल, मिट्टी, गन्दगी से ऊपर उठना है।

पिछले दिनों देश में पैदा हुए
एक से एक होनहार बच्चे
और मैं हिन्दी में
बच्चों के तुतलाने की आवाज सुनने के मोह में
बूढ़ा होता रहा
होनहार बच्चों के मां-बाप घूमते रहे लंदन और न्यूयार्क
और मैं लोक भाषाओं की मिठास में डूबा
भारतीय संगीत और कलाओं के गुण गाता
स्वयं को सुरुचि-संपन्न-सभ्य नागरिक
समझने के फेर में इस उम्र में भी
सड़कों पर पैदल चलता रहा

लौट रहा था यही सोचता एक दिन दोपहर में
तभी अचानक सुन पड़ी 'बुन्देली' में बच्चे को डांटती
एक स्त्री की आवाज तो चौंक पड़ा और देखा
उसके सिर पर एक हाथ में किरमिच का मैला सा झोला
दूसरे हाथ से वह कन्धे से चिपके बच्चे को थामे थी

वह चैत का महीना था
शायद वह चैतुओं के डेरे की तरफ जा रही थी
उसके पीछे-पीछे एक नंग-धडंग बच्चा चल रहा था
सड़क तप रही थी
उसके पांव चल रहे थे, वह कहे जा रहे था
उसे 'ततूरी' लग रही है
मैं जो तुतलाने की आवाज सुनने की तलाश में निकला था
सुन नहीं पाया उस बच्चे के तुतलाने की आवाज
उठा नहीं सका उसे अपनी गोद में और देखता रहा
डामर की सड़क पर जलते हुए
तोतली आवाज के नंगे पांव

घर लौटकर पता नहीं, किसे बचाने के लिए
मैंने लिखी यही कविता, जबकि मैं अपना
लोक और परलोक दोनों ही खो चुका था।

●●

जगदीप सिंह की कविताएं

सभ्य बने रहने की कला

वे एबीसीडी सिखाते हैं
और लगा देते हैं जुबां पर ताला
जो सवाल मन में हैं
नहीं जानता कैसे पूछे

अंग्रेजी का एक्स चिपका दिया है उसके होठों पर
धीरे-धीरे चुप्पी के बीच
सीख जाता है बच्चा
स्कूल के कायदे

बच्चा घर में भी चुप रहने लगता है
चुप रहकर रट लेता है बच्चा
ग्रीडि-डोग के टाइटल को
अंग्रेजी के साथ सीखता है
सभ्य बने रहने की कला

सभ्य बने रहने की कला-2

ये क्या बोलते रहते हो तुम
याड़े ओड़े तनै मनै बिन्नै किन्नै

ये लो
कोट पैंट टाई के साथ
बांध लो हाए हैलो हाऊ डू यू डू
शिष्टाचार के नपे तुले शब्द

बंद होठों में
छोड़ दो हल्की सी दरार
सधी सी छिछली मुस्कान के लिए

अब जल्द ही तुम इसकी कीमत पाओगे
इस तरह तुम भी सभ्य हो जाओगे

ओ.... कवि

ओ.... कवि
मेरे हिस्से की रोटी लिखो
अब चांद को रोटी कहने से पेट नहीं भरता
बादलों का राग मुझ तक नहीं पंहुचा
हवा में झूमते पेड़-पौधे
कलकल कर बहती नदियां, झरनें
बागों में कूकती कोयलें
चुभती हैं कानों को
फटे गलों से नसों को खींचती हुई
निकलने वाली नारों की गूंज से ही
हमें तसल्ली मिलती है
फूलों की खूशबू नहीं
चिलचिलाती धूप में बहते पसीने की बू
भाती हैं हमें
प्रतीक और बिंब की भाषा
बहुत देर से समझ आती है
मेरी खातिर जो कहना चाहते हो
साफ साफ कहो कवि
मेरी भाषा में

-- जगदीप सिंह
सम्पर्क-09416854057

भारतीय संविधान की 8वीं अनुसूची में शामिल भाषाएं

1.	असमिया	12.	पंजाबी
2.	उड़िया	13.	बांग्ला
3.	उर्दू	14.	बोड़ो
4.	कन्नड़	15.	मणिपुरी
5.	कश्मीरी	16.	मराठी
6.	कोंकणी	17.	मलयालम
7.	गुजराती	18.	मैथिली
8.	डोगरी	19.	संथाली
9.	तमिल	20.	संस्कृत
10.	तेलुगू	21.	सिंधी
11.	नेपाली	22.	हिंदी

सत्यपाल सहगल की कविताएं

दरवाज़े

नष्ट न करो हिन्दी
हम बचाने आए थे
तुम्हें ही, हमारे फटे कपड़े देख
रास्ते में कांटे किसने लगाए
तू ही बता-
तूने तो नहीं?

पहले ही थे नष्ट
होने के कगार पर, तेरी
ओर आए, नष्ट होता, दूसरे
नष्ट-होते के पास आता-
बचाती नहीं क्यों
नष्ट नहीं करती जो तुम!

2.
निकल अपनी भीड़ से
कुछ सवालों के जवाब दे
ले कुछ के जवाब
न बैठ सिर पर
अपने गहनों के बोझ साथ
लेजा अपनी टोकरी भरी
कुछ ना ख़रीदूँगा!

3.
नष्ट न करो हमें
हम ही हिन्दी
बाकी सब मुहावरे
माथे की बिंदी!

किया हिन्दी ने फैसला
चुप रहेगी वह
सब देखेगी
चुप रहेगी ज्यादा!

4.
जीते हिन्दी-हिन्दी वाले
जीते बिंदी-बिंदी वाले
हारे हिन्दी में खोजने वाले
वे गढेंगे, अलग हिन्दी अपनी
बनाएँ कुटिया साधु जैसे
शहरों के बाहर!

5.
लूट ले गए हिन्दी
हिंदीवाले, कितनी भगदड़
छूटी चप्पलें,
छूटे थैले
छूटे सामान!

6.
हिन्दी से बाहर हमारे लफ्ज
हिन्दी में लिखे गोकि
मुड कर देखते
कानों ने ठीक सुना
बंद हुए हिन्दी के दरवाजे!

कब सोचा था

कब सोचा था
दुःख एक दवात होगी
अनुभव कलम
कविता पहले सबक

बंदिशें बंदिश बन कर
शब्दों में घुल जायेंगी
राहतें
चाहतों में बदल जायेंगी
हंसी में
हसरतें उड़ जायेंगी

एक कापी
एक पैन
...जंगलों में बैठ कर
शहरों की कथाएँ लिखेंगे
कब सोचा था

हर रोज
किसी न किसी मोटर के नीचे
आया है हमारा कोई हिस्सा
नावों में बैठे तो कुछ हम में से कूदा
और जल में समां गया

बटुए से अक्सर निकलते रहे कम सिक्के
घड़ियों में सदा रहा कोई दोष
हारमोनियम पर जमती रही धूल
गुल्लकें वक्त पड़ने पर नहीं मिली
सर्दियों में जब निकाले गर्म कपड़े
अनधोए पड़े थे
जूस निकालने कि मशीन धरी रह गयी
फ्रिज में पड़ी बर्फ का इस्तेमाल नहीं हुआ
खोती रहीं बूट-पालिश की डिब्बियां

तय था
हमें शुरू करना था वहां से
पानी के नल के लिए
प्रार्थना -पत्र जहाँ लंबित था-
हमें सीखनी थी सायकिल चलानी
रटने थे राजधानियों के नाम
हिंदी सीखनी थी
अंग्रेजी के लिए इन्तजार करना था

कब सोचा था
शायरी करेंगे
औ' उस में नहीं देखेंगे अपना चेहरा

कब सोचा था
शायरी करेंगे
औ' मुज़रिम करार दिए जायेंगे

सकना

कुछ भी हो सकता है
याद रखो!

अक्तूबर में गरज
सकते हैं बादल
इंकार कर सकते हैं कारिंदे
पर कतरना
हिन्दी में आज़ादी बन सकती है बहस की बात
रिआया को करना परेशान
पड़ सकता है राजा को महंगा!

चिल्लाते हैं बच्चे -
'पापा! कुछ भी हो सकता है'
'बहन! कुछ भी हो सकता है'
डाल कर आँख में आँख कहती हैं लड़कियां -
'कुछ भी हो सकता है!'

बड़े लोगों ने कहा -
'कुछ भी हो सकता है!'
ऐसे ही नहीं कहते बड़े लोग
कुछ भी हो सकता है!

इसीलिए मैंने उड़ाई पतंग
निहारा रेलगाड़ियों को, सुनी उनकी सीटियाँ
पत्थरों पर बैठा रहा घंटों
छुआ मेरा मर्म
बहते पानियों ने इसीलिए!

सम्पर्क -
हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय
चंडीगढ़- मो. 09855608489

बच्चे की जिद्द

मलखान सिंह
गांव व डाक दयौरा (कैथल)

पढ़ा रहा था मास्टर
क ... ख ... ग
बोल रहे थे बच्चे
क ... ख ... ग
मगर बोल रहा था एक बच्चा
कै ... खै ... गै
मास्टर ने बच्चे को समझाया
बोलो बेटा
क ... ख ... ग
बच्चा बोला
कै ... खै ... गै
मास्टर ने फिर बच्चे को समझाया
बच्चा जिद्द पे अड़ा रहा
फिर मास्टर गुस्से में
डंडा उठाकर बच्चे पे चिल्लाया
बोल तू ---- कै ... खे ...गै
बोल तू ---- कै ... खे ... गै
सब बच्चे मन-ही-मन गुनगुनाने लगे
कै ... खै ... गै

दीपक रविश की कविताएं

चीं चीं चीं

मम्मी मम्मी चिड़िया का बच्चा
करता चीं चीं चीं
चुप कर, मोनू
बैठ के पढ़ ले
अपनी ए बी सी

मम्मी मम्मी

मम्मी मम्मी चिड़िया का बच्चा
करता चीं चीं चीं
मैं क्यूं बैठ के पढ़ लूं
अपनी ए बी सी

सुन ले, मोनू बेटा
चिड़िया का बच्चा
अपनी लाइफ में
कुछ नहीं कर पायेगा
छोटे छोटे पंख उगेंगे
आसमान में उड़ जायेगा
थोड़े दिन चुगेगा दाना
फिर बेचारा मर जायेगा

ए बी सी पढ़ के
मेरा राजा बेटा
डाक्टर जब बन जायेगा
सफेद कोट पहनने वाली
डाक्टरनी घर लायेगा

मम्मी मम्मी, पापा आये
ये क्या लाये ये क्या लाये
ये है बेटा एरोप्लेन
ए बी सी पढ़ के
एक दिन राजा बेटा
पायलट जब बन जायेगा
वो नीले आसमान में
एरोप्लेन उड़ायेगा

पापा दे दो आम
पापा दे दो आम
चुप कर नालायक
सारे मोहल्ले में
नाक हमारी कटवायेगा
मैंगो बोलेगा जब
आम तभी ले पायेगा
मैंगो बोलूंगा पापा
तो क्या ये आम
ज्यादा मीठा हो जाएगा

मम्मी मम्मी
चिड़िया का बच्चा
चुप कर, चुप कर

पापा पापा
चिड़िया का बच्चा
चुप कर, चुप कर

टीचर टीचर
चिड़िया का बच्चा
चुप कर,चुप कर

अवांछनीय संज्ञाएं

थम्बो, बोहती, रामभतेरी, भतेरी
शांति,संतोष, काफी, माफी
व्याकरण की दृष्टि से ये
व्यक्तिवाचक संज्ञाएं हैं
पर समाजशास्त्र की दृष्टि से
ये अवांछनीय संज्ञाएं हैं
संज्ञा के इस भेद पर
हे महान पाणिनी
आपकी दृष्टि क्यों नहीं पहुंच पाई

माफी
गांव के चौक में बैठी
मिट्टी खाती रहती है
उसकी दादी

उसको देख कर भी
अनदेखा कर जाती है
चौक से गुजरने वाले
माफी को धमकाते हैं
मिट्टी खाने से हटाते हैं
माफी बच जाती है
काश हर माफी का घर
चौक में होता

एम फिल का सेमिनार

चलो साथियो, चलो साथियो
आज हमारा है एम फिल का सेमिनार
पहले मैडम के लें पद चुचकार
शायद हो जाए हमारा बेड़ा पार

''पहले तुम आओ रमेश कुमार''
''दुस्यन्त कुमार का हिंदी गजल
संसार में विसेस स्थान है''
घोर अनर्थ, बेड़ा गर्क, भाषायी भ्रष्टाचार
कर दिया मलियामेट रमेश कुमार
श ष स का नहीं कुछ भी विचार

''जिसने हिंदी गजल को नजदीक से
जाना-पहचाना है''
हरियाणवी टच, बंटाधार बंटाधार
तुम्हारा नहीं हो पाएगा उद्धार

मैडम जी कहता हूं पद चुचकार
मैं गांव की गलियों से आया हूं
जोहड़ों में कूदा हूं बारिश में नहाया हूं
दादी से मां से बचपन से ही
जाना को जाणा सुनता आया हूं
इसीलिए ण और न थोड़ा भरमाया हूं
पर दुस्यन्त कुमार के विषय में
अच्छे से पढ़कर आया हूं
तू तो करने लगा पलट के वार
चुपचाप अपने डाल हथियार
ये शाही पनीर काजू कतली का संसार
तू बथुए का साग टिंड का अचार
पहले उच्चारण में करो सुधार
तीन मास बाद होगा सेमिनार

मैडम जी सेमिनार सेमिनार
बंटाधार बंटाधार
मैडम जी दुस्यन्त कुमार
बेड़ा गर्क अनर्थ अपार
मैडम जी दुष्यन्त कुमार

''दरख्तों के साये में धूप लगती है यहां
चलो चलें यहां से और उमिर भर के लिए ''

मनोज छाबड़ा की कविता
दरकती भाषा के अंतिम कवि

दरकती भाषा के अंतिम कवि
जी-जान से लिख रहे हैं
अपनी जवानी की कवितायें
उनके एक हाथ में कलम है
दूसरे में नए दांतों का सेट

कांपते उँगलियों से उतरी ये कवितायें
किसे ढांढस देंगी
कवि नहीं जानते
उनका ख्याल है
वे
इस तरह
अपनी भाषा को बचा रहे हैं

काश!
उन्होंने चिंता की होती
कविता के पाठकों तक पहुँचने की
कोशिश की होती
तो
आलोचकों की रखैल न बनी होती कविता
न होती भाषा
कगार पर

सम्पर्क : 09416971222

●●

आलेख

वैदिक साहित्य में भाषाई चिन्तन

डॉ. रणवीर सिंह

वैदिक साहित्य में सभी स्तरों पर भाषा के संबंध में सूक्ष्म चिन्तन किया गया है। ऋग्वेद के कई पूरे सूक्तों में तथा अन्य वेदों, ब्राह्मणों,आरण्यकों,उपनिषदों व वेदांगों में भाषा का वाक् के रूप में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। वेद की संहिताओं में पाए जाने वाले वर्णन प्रायः रूपक शैली में तथा अधिकांशतः स्तुतिपरक हैं। परंतु कुछ स्थलों पर वाक् एवं शब्द का इतना स्पष्ट, सुन्दर और सभी पक्षों की व्याख्या करने वाला वर्णन प्राप्त होता है कि विद्वानों को भी आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है।

ऋग्वेद का यह सूक्त 10.71 पूरा वाक् पर केंद्रित है। इस में कहा गया है कि ज्ञान की यह स्तुति वाणी के मूल श्रोत का कथन करती है। उसके मूल श्रोतों का आवास उन नामों में है जो सबसे पहले हुए ऋषियों ने विभिन्न पदार्थों को दिए। अन्न को जैसे छाज से साफ किया जाता है वैसे ही ऋषियों ने भाषा को स्वच्छ करके उस पर कल्याणकारी चिह्न लगा दिया। वेदों में इस सूक्त के समान वाणी का संबंध यज्ञ से जोड़ा गया है। वह ऋषियों के यहां प्राप्त होती है, उसे ऋषियों में से निकाला जाता है। मानव की सेवा में नियुक्त करने के लिए वाणी को कई भागों में बांटा जाता है। पर हर कोई भाषा में महारत हासिल नहीं कर सकता, भाषा की महारत भाग्यवान को ही प्राप्त होती है। भाषा पर अधिकार व्यक्तिगत योग्यता की अपेक्षा आपस के प्रेम-प्यार पर अधिक निर्भर है जिसे 'सखीत्व' कहा गया है। इसकी आवश्यकता वादविवाद प्रतियोगिता में साझीदारों को होती थी। यह प्रतियोगिता यज्ञ का अभिन्न अंग हुआ करती थी। इस प्रकार इस सूक्त में वाणी की उत्पत्ति की ओर संकेत करते हुए क्रियात्मक महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है।

ऋग्वेद के एक दूसरे सूक्त (10.125) में वाक् का एक महान शक्ति के रूप में वर्णन किया गया है। यह ब्रह्म से उत्पन्न हुई है। दूसरी ओर इसका मानवीकरण ब्रह्म की उत्पादिका शक्ति के रूप में भी किया गया है। इन दोनों को एक-रूप भी कहा गया है। वाक् विश्व के सब पदार्थों का निर्माण करने वाली है। यह सब दैवी शक्तियों की प्रेरक है। यह रुद्र के लिए धनुष उपलब्ध कराती है ताकि मंत्र से द्वेष करने वाले को बाण नष्ट कर सके। वस्तुतः इस रूपक का प्रासंगिक अभिप्राय यही हो सकता है कि ब्रह्म की व्यवहार-शक्ति वाणी सब पदार्थों में व्याप्त होती हुई सब कामों को पूरा करवाने वाली है। परोक्ष रूप में यह सारी सृष्टि को जीवन देने वाली है। इसको 'राष्ट्री' विशेषण से पुकारा गया है। मनुष्य की सब इन्द्रियां इसके द्वारा नियन्त्रित हैं तथा यह अपने तेज से अपने भक्त को ऋषि, ब्राह्मण, अथवा विद्वान् बना देती है। यह मानवों को धन एवं रक्षा का दान देती है। इस प्रकार वर्तमान सूक्त में वाणी की महिमा का वर्णन करते हुए उसकी विशिष्ट उपयोगिता को रेखांकित किया गया है।

ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में शब्द का रूपक बांधते हुए कहा गया है कि एक वृषभरूपी महान देवता पृथ्वीलोक के मनुष्यों में घुसा हुआ है जिसके चार सींग, तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं तथा यह तीन प्रकार से बंधा हुआ है। पतंजलि ने महाभाष्य में चार सींग का अभिप्राय संज्ञा, क्रिया, उपसर्ग, अव्यय रूपी चार प्रकार के शब्दों से; तीन पैर का अभिप्राय भूत, भविष्यत, वर्तमान रूपी तीन कालों से; दो सिर का अभिप्राय नित्य और कार्यरूपी शब्द के दो भेदों से; सात हाथों का अभिप्राय प्रथमा आदि सात विभक्तियों से लिया है। तथा तीन प्रकार से बंधा होने का अभिप्राय लिया है कि यह शब्द मनुष्यों में नाभि, छाती और कंठ में बंधा पाया जाता है।

एक अन्य मंत्र में (ऋग् 1.164.4 5) कुछ स्पष्ट वर्णन मिलता है जिसमें शब्द के सीधे चार रूप बताए गए हैं। इन चार रूपों की पतंजलि ने यहां भी ऊपर के समान ही व्याख्या की है। वाणी के उन चार रूपों को बारीकी से मनीषी विद्वान् ही जानते हैं, आम लोग तो केवल इनका चौथा भाग ही बोल पाते हैं।

वाणी का इसी प्रकार का एक अन्य रूपक शतपथ ब्राह्मण में बांधा गया है। यज्ञ के प्रसंग में गाय के रूप में वर्णन करते हुए इसके चार स्तन बताए हैं - स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार। इनमें से पहले दो का संबंध देवताओं से, तीसरे का मनुष्यों से तथा चौथे का पितरों से है। यज्ञ में स्वाहा व वषट् के उच्चारण से देवताओं को तथा स्वधा से पितरों को आहुतियां देने का चलन है। जैसे गाय थनों से दूध देती है वैसे ही वाणी द्वारा स्वाहा आदि का उच्चारण देवताओं, मनुष्यों और पितरों को प्रसन्नता देने वाला है।

ऋग्वेद के एक मंत्र में(4.58.1) वाणी की समुद्र से तुलना की गई है, ऐतरेय ब्राह्मण में इसका खुलासा करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार समुद्र कभी नष्ट नही हो सकता क्योंकि वह अत्यन्त विस्तृत है उसी प्रकार वाणी भी अत्यन्त विस्तृत होनेके कारण कभी नष्ट नहीं हो सकती। तांड्य महाब्राह्मण में उल्लेख है कि वनस्पतियों ने वाणी को चार प्रकार से धारण किया हुआ है -

दुंदुभि में, वीणा में, पासे में तथा धनुष की डोरी में। अतः यह जो वनस्पतियों में पाया जाने वाला सबसे सुंदर वाणी का स्वरूप है इसी को बोलना चाहिए। देवताओं की वाणी भी इसी प्रकार की थी। अन्य वेदों - यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में भी वाक् संबंधी वर्णन पाए जाते हैं। सरस्वती की नदी के अलावा वाणी और विद्या की देवी के रूप में स्तुतियां मिलती हैं। सरस्वती के दोनों किनारों पर अधिकांश वैदिक साहित्य की रचना हुई और इस प्रक्रिया में वह नदी से देवी कब बन गई इसका किसी को आभास ही नहीं हुआ।

भाषा का विश्लेषणपरक विवेचन प्रातिशाख्यों, निरुक्त, पाणिनि व इसकी पूरी परंपरा, एवं संस्कृत-कोषों की समस्त सरणि में गहराई एवं विस्तार से पाया जाता है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष ये छह वेद के अंग स्वीकार किए गए हैं, इनमें से शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त एवं छंद का सीधा संबंध भाषा से है।

यास्क का निरुक्त मूलरूप में तो एक प्राचीन निघंटु नामक वैदिक कोष की व्याख्या के लिए लिखा गया परंतु इसमें प्रसंगतः उच्च भाषाई चिंतन भी पाया जाता है। संभवतः यह पहला ग्रंथ है जिसमें निर्वचन-विज्ञान एवं अर्थ-विज्ञान का गहनता से विश्लेषण किया गया है। भाषा के चार तत्वों - नाम, आख्यात(क्रिया), उपसर्ग, निपात - का अलग-अलग विस्तृत विवेचन भी बड़ी बारिकी से किया गया है। निरुक्त का एक अनूठा सिद्धांत है कि सभी नाम अर्थात् संज्ञा-पद मूलरूप में क्रियापदों से विकसित हुए हैं। वेदव्याख्या की दृष्टि से इस सिद्धांत की अद्भुत उपयोगिता है क्योंकि इसमें गंभीर अर्थविज्ञान समाया हुआ है। वेदमंत्रों के रचयिता ऋषियों के अभिप्रेत अर्थों को स्पष्ट करने के लिए यह नियम चाबी का काम करता है। चूंकि व्याकरण-शास्त्र में हरेक धातु (मूलक्रिया) का एक विशिष्ट अर्थ दिया गया है तथा उससे व्युत्पन्न संज्ञा-पद का अर्थ पहले से दिए हुए उस अर्थ/अर्थों के आधार पर किया जाना ही उचित है। निरुक्त का समय आम तौर पर ईसा से सात सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। उस प्राचीन समय में इस प्रकार का सूक्ष्म विवेचन एक उल्लेखनीय विशेषता है। इस ग्रंथ में श्रुति-परंपरा से भाषा की लिखित-परंपरा में प्रवेश के स्पष्ट संकेत भी प्राप्त होते हैं। इसमें कहा गया है कि जब ऋषि-लोग अपने पूर्वजों के समान तपस्वी नहीं रहे तो गुरु-मुख से सुनकर मंत्रों को याद करने में कठिनाई में फंसने लगे तो उन्होंने वेद, वेदांग और निरुक्त-निंघंटु की परंपरा को यथावत चालू रखने के लिए 'समाम्नान' क्रिया का आगाज़ किया। इसका सीधा अभिप्राय लिखित प्रणाली का आरम्भ और विस्तार प्रतीत होता है।

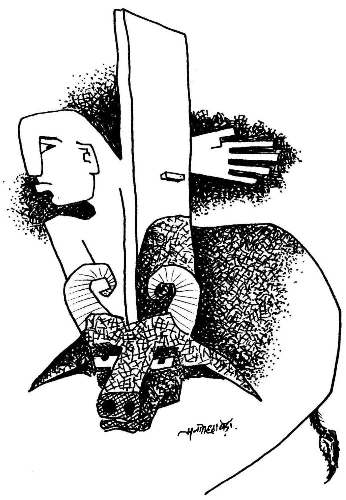

पाणिनि के व्याकरण-शास्त्र को मानव मस्तिष्क का सर्वोत्तम आविष्कार माना गया है। अष्टाध्यायी बनाने से पहले पाणिनि ने एक धातुपाठ की रचना की - जिसमें लगभग दो हजार धातुओं का अर्थ सहित संग्रह किया गया है; एक गणपाठ की रचना की - जिसमें अनेक शब्दों का किन्ही सामान्य विशेषताओं के आधार पर समूहीकरण किया गया है; तथा एक उणादिपाठ की रचना की - जिसमें उण् आदि अनेक प्रत्ययों का विधान करने वाले सूत्रों का संग्रह किया गया है। अष्टाध्यायी के चार हजार सूत्रों में इन सभी उपकरणों का व्यावहारिक उपयोग किया गया है। इसके अलावा पाणिनि ने अलग-अलग अक्षरों एवं मात्राओं के शुद्ध उच्चारण के लिए एक शिक्षा-ग्रंथ तथा विभिन्न शब्दों के लिंग-निर्धारण के लिए एक लिंगानुशासन का प्रणयन भी किया है। भाषा संबंधी सभी बारीकियों का अनुपम विश्लेषण पाणिनि को सर्वश्रेष्ठ भाषाशास्त्री के पद पर बैठा देता है।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में संस्कृत भाषा के सभी तत्त्वों का बड़ी बारीकी से संपूर्णता के स्तर तक विश्लेषण किया है। अष्टाध्यायी के 4000 सूत्रों में वैदिक और संस्कृत भाषा के विविध अंगों, यथा- संज्ञा, सर्वनाम, कारक, संधि, समास, लकारार्थ, तिंगंत, कृदंत, तद्धित, वैदिक पद एवं स्वर-प्रक्रिया - का संपूर्ण विवरण एवं विवेचन विशदता से किया गया है। कात्यायन के वार्त्तिकों तथा पतंजलि के महाभाष्य ने इस विवेचन को सामयिक दृष्टि से तरोताजा स्वरूप देते हुए प्रासंगिकता को बनाये रखा। काशिका, सिद्धांतकौमुदी तथा आधुनिक हिंदी व्याख्याओं ने आज तक उपयोगी बनाया हुआ है। पतंजलि ने महाभाष्य के आरंभ में शब्द, अर्थ और इनके संबंध के विषय में विशद और सार्थक विवेचन किया है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में शब्द को ब्रह्म का दर्जा दिया है। ऊपर बताया जा चुका है कि वेद में भी वाणी को यही स्थान हासिल है। पतंजलि ने ध्वनि और स्फोट के रूप में शब्द के दो भेद माने हैं। स्फोट की दृष्टि से शब्द नित्य और ध्वनि की दृष्टि से अनित्य माना गया है। स्फोट और ध्वनि में जो संबंध बताया गया है वह व्यंग्य-व्यंजक-भाव जैसा है। शब्द अपने अर्थ के साथ नित्य रहता है। शब्द और अर्थ में अभेद स्वीकार करते हुए भी व्याकरण को शब्दानुशासन कहा गया है अर्थानुशासन नहीं क्योंकि वाणी से शब्द बोला जाता है अर्थ नहीं। अर्थ तो शब्द का अनुगमन करता है। पतंजलि ने सिद्धांत के तौर पर जाति, गुण और क्रिया इन तीन प्रकार के शब्दों को माना है, यदृच्छा शब्दों को नहीं।

भाषा के दार्शनिक चिंतन की परंपरा में पतंजलि के बाद भर्तृहरि का नाम आता है जिन्होनें वाक्यपदीयम् के तीन काण्डों में भाषा के तत्त्वों पर गंभीर विवेचन किया है। आगे नागेश भट्ट के

नव्य व्याकरण के 'मंजूषा' ग्रंथों में व्याकरण-दर्शन कठिन भाषा के साथ गंभीर स्वरूप में प्राप्त होता है जिसे आधुनिक अनुवादकों ने सरल रूप दे दिया है।

अमरसिंह एक बौद्ध मत का अनुयायी था। उसने चौथी ईस्वी या इससे भी पहले 'नामलिंगानुशासन' नामक एक संस्कृत कोष बनाया जिसे अमरकोष के नाम से अधिक जाना जाता है। इसके तीन काण्डों के कुल 25 वर्गों में से 22 में पर्यायवाची तथा एक-एक वर्ग में अनेकार्थवाची, अव्यय और लिंगादि का समावेश किया गया है। पहले कांड के छठे शब्दादि वर्ग में भाषा का अच्छा विश्लेषण मिलता है। भाषा के पर्यायवाची गिनाते हुए ब्राह्मी, भारती, भाषा, गीर्वाग, वाणी, सरस्वती, व्याहार, उक्ति, लपित, वचन और वचस् का उल्लेख प्राप्त होता है। व्याकरण से असम्मत को अपभ्रंश और अपशब्द कहा गया है। क्रिया और नाम पदों के संयोग को वाक्य कहा गया है जिनमें आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि नामक तत्व उपस्थित हों। इसके बाद अमरसिंह ने वेद, वेदांग, इतिहास, अर्थशास्त्र, पुराण, प्रहेलिका, स्मृति, समस्या, किंवदन्ति, अभिधान, आह्वान, उपन्यास, उदाहार, शपथ, प्रश्न, उत्तर, मिथ्या अभियोग, अभिशाप, यश, स्तुति, आम्रेडित, घोषणा, निन्दा, पारुष्य, भर्त्सना, उपालम्भ, आक्रोश, आलाप, प्रलाप, विलाप, विप्रलाप, संलाप, सुप्रलाप, अपलाप, संदेश, वाणी के तीन भेद - रुशती, कल्या, संगत आदि अनेक शब्दों के पर्यायों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। ये सभी शब्द भाषा के विकास को सूचित कर रहे हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि संस्कृत में 100 के लगभग कोषग्रन्थ और 200 के लगभग टीकाएं लिखी गई हैं। अकेले अमरकोष पर 85 के लगभग टीकाएं मिलती हैं।

सार के तौर पर कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में जो भाषाई चिंतन पाया जाता है बाद की परंपरा में उसी का विस्तार प्राप्त होता है। वैदिक और संस्कृत साहित्य में भाषा के विषय में जो विवेचन और विश्लेषण मिलता है वह अपने आप में अद्भुत और आश्चर्य पैदा करने वाला है। वह पूर्णता की सीमा तक विस्तृत और सभी अंगो को शामिल किए हुए है। वैदिक भाषा में किसी शब्द में उच्च-स्वर(उदात्त) की आगे या पीछे की उपस्थिति के आधार पर जो उच्चारण किया जाता था तथा उसके आधार पर जो अर्थ की प्रतीति होती थी वह अपने आप में एक अनुपम विशेषता थी। जैसे 'आशा' शब्द में उच्च-स्वर आरंभ में बोलेंगें तो अर्थ होगा- दिशा और यदि अंत में बोलेंगें तो अर्थ होगा- संभावना। इसी प्रकार लिंग के भेद से भी अर्थ में बदलाव आता है, यथा 'मानः' पुंलिंग का अर्थ है- प्रमाण और 'मानम्' नपुंसकलिंग का- नापने या तौलने का साधन। इसी प्रकार किसी मूल क्रिया(धातु) से जुड़ने वाले प्रत्यय के बदलने से अर्थ का बदलना तो सभी को मालूम है। भाषा की संरचना, अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति, उच्चारण की निश्चितता तथा लिखने और बोलने में देश-काल की सीमा से परे की एकरूपता संबंधी ऐसी खासियत हैं जो संस्कृत में पाई जाती हैं।

सम्पर्कः 9416334660

(आलेख)

हिन्दी : ऐतिहासिक संदर्भ

दीपचंद्र निर्मोही

'हिन्दी' शब्द का प्रयोग पांचवीं शताब्दी के अंत में विदेशियों द्वारा किया गया मिलता है। पुराने समय से ही व्यापार के संदर्भ में भारत के लोग पानी के रास्ते विदेशों में जाते-आते रहे हैं और विदेशों के लोग भारत आते-जाते रहे हैं। पांचवीं शताब्दी में ईरान के प्रसिद्ध विद्वान हकीम बजरोया पंचतंत्र का अनुवाद करने के लिए भारत आए। इस अनुवाद की हुई पुस्तक की भूमिका लिखते समय बुजुर्ग मिहर ने लिखा - यह अनुवाद 'जबान-ए-हिन्दी' से किया गया है। लगता है कि उस समय 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग हिन्दुस्तान की भाषाओं के लिए किया गया। इस शब्द का प्रयोग इसी प्रकार और भी कई अरबी और फारसी विद्वानों ने किया है, जिनमें इब्न बबूता, अब्दुल्ला इब्नुल मुकफ़्फ़ा,, शरफूद्दीन यज़्दी आदि नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। भारत में भी 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग मुसलमान विद्वानों द्वारा ही किया गया है। इनसे पूर्व और अभी तक भी भाषा के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग ही भारत में किया जाता रहा है। इस समय तक जितनी भी टीकाएं मिलती हैं, उन सभी पर भाषा-टीका लिखा होता है। फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता में लल्लूलाल की नियुक्ति 'भाषा मुंशी' के पद पर ही हुई थी।

तेरहवीं शताब्दी में अमीर खुसरो ने हिन्दी के लिए 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग किया है। आगे चलकर यही शब्द 'हिन्दी' रूप में प्रचलित हुआ। इंशा अल्ल्ला खां ने भी 'हिन्दवी' शब्द का ही प्रयोग किया है।

भारत में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग कब और किसने किया, पता नहीं चलता, पर दक्खिनी हिन्दी के साहित्यकारों ने हिन्दी शब्द का प्रयोग खूब किया। वे सभी साहित्यकार मुसलमान थे। उस शब्द का प्रयोग सत्रहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत में भी खूब प्रचलित हो गया था। बेशक इन सभी साहित्यकारों की लिपि फारसी रही हो। इन साहित्यकारों में शाही मीरांजी, शाहबुर्हानुद्दीन मुल्ला वज़ही, शफी खां, मिर्जा खां का नाम लिया जा सकता है। उदाहरण के लिए उनके प्रयोग 'यों देखत हिन्दी बोल', 'ऐब न राखें हिन्दी बोल'। जुनूनी भी इसी प्रकार लिखते हैं - मैं इसको दर हिन्दी जबां इस वास्ते कहने लगा।'

परन्तु भाषा के रूप में हिन्दी का जन्म दसवीं शताब्दी से विद्वान मानते हैं। हिन्दी का प्रारंभिक काल आदिकाल और वीरगाथा काल के नाम से भी जाना जाता है। इसका समय विद्वान 1000ई0 से 1500ई0 तक मानते हैं। इस काल में जो साहित्य लिखा गया, उसकी भाषा का आधार लोक में प्रचलित बोलियां ही

रहा। उस काल के साहित्य में डिंगल, पिंगल, मैथिली, दक्खिनी के प्रयोग के साथ-साथ अरबी, फारसी और पश्तो के शब्द भी मिलते हैं। अपभ्रंश का प्रयोग भी खूब मिलता है। हिन्दी ने ध्वनियां तो अपभ्रंश से ली ही हैं। इसमें संदेह नहीं। इस काल के प्रमुख साहित्यकारों में गोरखनाथ, नरपतिनाल्ह, विद्यापति, चंदवरदाई, दलपति विजय, अमीर खुसरो, ख्वाजा मसऊद साद सुलेमान का नाम लिया जा सकता है। चंदवरदाई द्वारा रचित पृथ्वी राज रासो उस काल की प्रमुख रचना है। इस रचना में कवि ने पिंगल का विशेष रूप से प्रयोग किया है। इसके साथ अपभ्रंश, फारसी और संस्कृत के शब्दों का प्रयोग भी कवि ने किया है। परमाल रासों में जनभाषा का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है। बीसलदेव रासो पिंगल में लिखी रचना है। इसमें डिंगल का प्रयोग भी खूब मिलता है।

उस काल के कवि जिनमें खड़ी बोली का रूप साफ दिखाई देता है, ख्वाजा मसऊद सुलेमान और अमीर खुसरो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आज की हिन्दी का पहला कवि ख्वाजा मसऊद सुलेमान को कहा जाए तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। इनके बाद अमीर खुसरो का नाम निःसंदेह लिया जा सकता है। अमीर खुसरो ने स्वयं सुलेमान हिन्दी संग्रह की चर्चा की है।

यद्यपि विद्यापति संस्कृत के पंडित थे, परनतु उन्होंने अपने प्रसिद्ध काव्य ग्रंथों (कीर्तिलता, कीर्ति पताका) की रचना अपभ्रंश में की। उनके द्वारा लिखे सभी पद मैथिली में मिलते हैं।

मध्यकाल (1500-1800 ई0) में हिन्दी की बोलियां विकसित हो खूब विकसित हो गई थी। उन्हीं में हिन्दी का साहित्य लिखा गया। जायसी, सूर, तुलसी, मीरा, केशव, बिहारी, भूषण, देव, बुरहानुद्दीन, कुली कुतुबशाह और नुसरती इस काल के प्रमुख साहित्यकार हैं। भक्तिरस के प्रमुख कवि सूरदास ने अपनी रचनाएं ब्रजभाषा में लिखी तो तुलसी ने अपनी रचनाओं में अवधी का अधिक प्रयोग किया। दक्खिनी हिन्दी डिंगल, मैथिली और खड़ी बोली के साथ कुछ उर्दू साहित्य की रचना हुई हुई। इस समय के साहित्य में लोकभाषा के साथ अरबी, फारसी, पुर्तगाली, फ्रांसीसी, तुर्की और तत्सम, तद्भव शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। इसके साथ ही कुछ अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी हुआ है।

आधुनिक काल के आते-आते हिन्दी की कुछ बोलियां इतनी विकसित हुई कि उन्होंने उपभाषा और भाषा के रूप में अपनी पहचान बनाई। ब्रज, अवधी, मैथिली, भोजपुरी में साहित्य की खूब रचना हुई। इस काल में खड़ी बोली का विकास चरम पर पहुंच गया। वह बोली उपभाषा भाषा के रूपों से गुजरती हुई राजभाषा, राष्ट्रभाषा के पद पर पहुंच गई है। आज की हिन्दी का आधार ही खड़ी बोली है। इसी हिन्दी में आज के सम्पूर्ण साहित्य की रचना हो रही है। इसने अपनी समन्वय क्षमता को इतना बढ़ाया कि तत्सम, तद्भव शब्दों के अतिरिक्त जिस भाषा का कोई भी शब्द इसके सम्पर्क में आया, वह इसी का होकर रह गया। अंग्रेजी भाषा के कितने ही शब्द जो इसी में समाहित हो गए। अग्नि, पुस्तक, कृषक, कर्म, दुग्ध, रात्रि, शिक्षा, पुत्र, भूख, प्रकाश, विद्यार्थी, वर्ण ऐसे तत्सम हिन्दी में समा गए, तो तद्भव शब्दों को भी उसने अपने अंदर स्थान दिया। आग, पत्थर, खेत, दही, रात, हाथ, आधा, काम, आम आदि अनेकों शब्दों का प्रयोग हिन्दी में हो रहा है। जनभाषाओं से आया शब्द कोष भी कम नहीं है। पगड़ी, जूता, भिंडी, लोटा, ठसक, ठेठ, चसका, खिचड़ी, पैसा, रोड़ा, गड़बड़ आदि अनेक शब्द हिन्दी के पास हैं।

विदेशी भाषओं के कितने ही शब्द जो हिन्दी के सम्पर्क में आए तो फिर इसी में रच-बस गए।। अख़बार, आईना, इत्र, आज़ाद, सुबह, हवा, दफ़्तर, तूफान, वकील, वज़ीर, जलसा, जुलूस, फायदा, किताब, कानून, तबीयत, काग़ज आदि ऐसे शब्द अरबी से आए, तो आदमी, आसमान, दरवाज़ा, दीवार, शादी, शिकार, शहद सब्ज़ी, गुलाब, नमक, परी, फ़ौज, स्याही, हिम्मत ऐसे अनेक शब्द फारसी ने हिन्दी को दिए हैं अंग्रेजी शब्दों की भी हिन्दी में कमी नहीं है। बैंक, फोटो, मशीन, रबर, रेल, पिक्चर, स्टेशन, कमीशन, अपील, स्कूल, कालेज, पुलिस, पार्सल, टेलीफोन, आईसक्रीम, इंजीनियर, टाई, पेंट आदि ऐसे बहुत से शब्द हिन्दी ने अंग्रेजी से ले लिए हैं। कुर्त्ता, बंदूक, कैंची, बारूद, बेगम, कुली, चाकू ऐसे शब्द तुर्की से ले लिए हैं। तो अलमारी, कनस्तर, कमरा, तौलिया, बाल्टी, साबुन, पादरी ऐसे और भी शब्द पुर्तगाली से आ गए हैं।

वस्तुतः हिन्दी को विकसित होने के लिए लोकभाषाओं और खड़ी बोली (खरी बोली) का मजबूत आधार मिला है, जिससे वह इतनी समृद्ध हुई कि आज विश्व में बोली जाने वाली भाषाओं में उसको तीसरा स्थान प्राप्त है।

संस्कृत साहित अन्य कुछ भाषाएं जो उसके सम्पर्क में आई, उनके साथ उसका केवल इतना ही सम्बन्ध दिखाई देता है कि उनके विशेष प्रचलित शब्दों को उसने आत्मसात कर लिया है।

आलेख का आधार :

अमीर खुसरो - सं. : सुदर्शन चोपड़ा

हिन्दी साहित्य कथा - डा. इंद्रनाथ मदान

हिन्दी साहित्य का परिचयात्मक इतिहास - डा. भगीरथ मिश्र

हिन्दी भाषा - भोलानाथ तिवारी

सम्पर्क : 98136-32105

●●

चू मन तूती-ए-हिन्दम, अर रास्त पुरसी,
जे मन हिन्दवी की पुर्स, ता नग्ज गोयम।

'मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ। अगर तुम वास्तव में मुझसे जानना चाहते हो तो हिन्दवी में पूछो। मैं तुम्हें अनुपम बातें बता सकूँगा।'

अमीर खुसरो

संवाद

भाषाओं की क़ब्रगाह बन गया भारत

(पीपुल लिंगुइस्टिक सर्वे के मुख्य संयोजक गणेश देवी से बीबीसी, संवाददाता अमरेश द्विवेदी की बातचीत पर आधारित। यहां प्रकाशित करने की अनुमति के लिए बीबीसी तथा उसके संवाददाता अमरेश द्विवेदी तथा मोहनलाल शर्मा का आभार)

पिछले 50 साल में भारत की क़रीब 20 फीसदी भाषाएं विलुप्त हो गई हैं। 50 साल पहले 1961 की जनगणना के बाद 1652 मातृभाषाओं का पता चला था। उसके बाद ऐसी कोई लिस्ट नहीं बनी। उस वक्त माना गया था कि 1652 नामों में से करीब 1100 मातृभाषाएं थीं, क्योंकि कई बार लोग गलत सूचनाएं दे देते थे। वडोदरा के भाषा शोध और प्रकाशन केंद्र के सर्वे के मुताबिक यह बात सामने आई है। 1971 में केवल 108 भाषाओं की सूची ही सामने आई थी क्योंकि सरकारी नीतियों के हिसाब से किसी भाषा को सूची में शामिल करने के लिए उसे बोलने वालों की तादाद कम से कम 10 हजार होनी चाहिए यह भारत सरकार ने कटऑफ़ प्वाइंट स्वीकारा था। इसलिए इस बार भाषाओं के बारे में निष्कर्ष निकालने के लिए हमने 1961 की सूची को आधार बनाया।

भारत की 250 भाषाएं विलुप्त हो गई हैं

जब हमने पीपुल लिंगुइस्टिक सर्वे किया तब हमें 1100 में से सिर्फ़ 780 भाषाएं ही देखने को मिलीं। शायद हमसे 50-60-100 भाषाएं रह गई हों क्योंकि भारत एक बड़ा देश है और यहां 28 राज्य हैं। हमारे पास इतनी ताक़त नहीं थी कि हम पूरे देश को कवर कर सकें। हमारे पास सिर्फ़ तीन हज़ार लोग ही थे और हमने चार साल तक काम किया। इस काम के लिए बहुत से लोग चाहिए थे।

हम यह मान भी लें कि हमें 850 भाषाएं मिल गईं हैं तब भी 1100 में से 250 भाषाओं के विलुप्त होने का अनुमान है।

दो तरह की भाषाएं हुई लुप्त

इसकी दो वजहें हैं और भारत में दो प्रकार की भाषाएं लुप्त हुई हैं। एक तो तटीय इलाक़ों के लोग 'सी फ़ार्मिंग' की तकनीक में बदलाव होने से शहरों की तरफ़ चले गए। उनकी भाषाएं ज्यादा विलुप्त हुईं। दूसरे जो डीनोटिफ़ाइड कैटेगरी है, बंजारा समुदाय के लोग, जिन्हें एक समय अपराधी माना जाता था। वे अब शहरों में जाकर अपनी पहचान छिपाने की कोशिश कर रहे हैं। ऐसे 190 समुदाय हैं, जिनकी भाषाएं बड़े पैमाने पर लुप्त हो गईं हैं। बंजारे समुदायों ने अपनी छवि के चलते बड़े शहरों में पलायन किया और पहचान छिपाकर रखी। इस वजह से कई भाषाएं विलुप्त हो गईं।

हर भाषा में पर्यावरण से जुड़ा एक ज्ञान जुड़ा होता है। जब एक भाषा चली जाती है तो उसे बोलने वाले पूरे समूह का ज्ञान लुप्त हो जाता है। जो एक बहुत बड़ा नुकसान है क्योंकि भाषा ही एक माध्यम है जिससे लोग अपनी सामूहिक स्मृति और ज्ञान को जीवित रखते हैं।

भाषा आर्थिक पूंजी भी है

भाषाओं का इतिहास तो 70 हज़ार साल पुराना है जबकि भाषाएं लिखने का इतिहास सिर्फ़ चार हज़ार साल पुराना ही है। इसलिए ऐसी भाषाओं के लिए यह संस्कृति का ह्रास है।

ख़ासकर जो भाषाएं लिखी ही नहीं गईं और जब वो नष्ट होती हैं, तो यह बहुत बड़ा नुकसान होता है। यह सांस्कृतिक नुकसान तो है ही, साथ ही आर्थिक नुकसान भी है। भाषा आर्थिक पूंजी होती है क्योंकि आज की सभी तकनीक भाषा पर आधारित तकनीक हैं।

चाहे पहले की रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान या इंजीनियरिंग से जुड़ी तकनीक हो या आज के दौर का यूनिवर्सल अनुवाद, मोबाइल तकनीक सभी भाषा से जुड़ी हैं। ऐसे में भाषाओं का लुप्त होना एक आर्थिक नुकसान है।

शहर में हो भाषाओं के लिए जगह

भाषा बचाने का मतलब है कि भाषा बोलने वाले समुदाय को बचाना। ऐसे समुदायों के लिए जो नए विकास के विचार से पीड़ित हैं, उनके लिए एक माइक्रोप्लानिंग की ज़रूरत है।

हर समुदाय चाहे वह सागर तटीय हो, घुमंतू समुदाय हो, पहाड़ी इलाक़ों, मैदानी और शहरी सभी समुदायों के लोगों के लिए अलग योजना की ज़रूरत है।

बहुत से लोग शहरीकरण को भाषाओं के लुप्त होने का कारण मानते हैं, लेकिन मेरे हिसाब से शहरीकरण भाषाओं के लिए खराब नहीं है। शहरों में इन भाषाओं की अपनी एक जगह होनी चाहिए। बड़े शहरों का भी बहुभाषी होकर उभरना ज़रूरी है।

सभी भाषाओं को मिले सुरक्षा

जिसकी लिपि नहीं हैं उसे बोली कहने का रिवाज़ है। ऐसे में अगर देखें तो अंग्रेज़ी की भी लिपि नहीं है वह रोमन इस्तेमाल करती है। किसी भी लिपि का इस्तेमाल दुनिया की किसी भी भाषा के लिए हो सकता है। जो भाषा प्रिंटिंग टेक्नोलॉजी में नहीं आई, वह तो

तकनीकी इतिहास का हिस्सा है न कि भाषा का अंगभूत अंग। इसलिए मैं इन्हें भाषा ही कहूंगा।

सरकारें न तो भाषा को जन्म दे सकती हैं और न ही भाषा का पालन करा सकती हैं। मगर सरकार की नीतियों से कभी-कभी भाषाएं समय से पहले ही मर सकती हैं। इसलिए सरकार के लिए ज़रूरी है कि वह भाषा को ध्यान में रखकर विकास की माइक्रो प्लानिंग करे। हमारे देश में राष्ट्रीय स्तर की योजनाएं बनती हैं और राज्यों में इसकी ही छवि देखी जाती है। इसी तरह पूरे देश में भाषा के लिए योजना बनाना ज़रूरी है। मैं यह इसलिए कह रहा हूं क्योंकि 1952 के बाद देश में भाषावार प्रांत बने।

इसीलिए हम मानते हैं कि हर राज्य उस भाषा का राज्य है, चाहे वह तमिलनाडु हो, कर्नाटक हो या कोई और। हमने केवल शेड्यूल में 22 भाषाएं रखी हैं। केवल उन्हें ही सुरक्षा देने के बजाय सभी भाषाओं को बगैर भेदभाव के सुरक्षा देना ज़रूरी है। अगर सरकार ऐसा नहीं करेगी तो बाकी सभी भाषाएं मृत्यु के रास्ते पर चली जाएंगीं।

हिंदी को डरने की ज़रूरत नहीं

दस हज़ार साल पहले लोग खेती की तरफ़ मुड़े उस वक्त बहुत सी भाषाएं विलुप्त हो गईं। हमारे समय में भी बहुत बड़ा आर्थिक बदलाव देखने में आ रहा है। ऐसे में भाषाओं की दुर्दशा होना स्वाभाविक है। मगर अंग्रेज़ी से हिंदी को डर या हिंदी से अन्य भाषाओं को डर ठीक नहीं है।

पिछले 50 साल में हिंदीभाषी 26 करोड़ से बढ़कर 42 करोड़ हो गए जबकि अंग्रेज़ी बोलने वालों की संख्या 33 करोड़ से बढ़कर 49 करोड़ हो गई। इस तरह हिंदी की वृद्धि दर अंग्रेज़ी से ज्यादा है।

मेरे हिसाब से हिंदी को डरने की ज़रूरत नही क्योंकि हिंदी दुनिया की भाषाओं के मामले में चीनी और अंग्रेज़ी के बाद सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषा है। वह स्पेनिश से आगे निकल गई है। मगर छोटी भाषाओं को बहुत खतरा है।

भारत के विकास के लिए भारतीय भाषाएं जरूरी क्यों

विज्ञान की शिक्षा में चोटी पर रहने वाले देश :

2012 में विज्ञान की सकूल स्तर की शिक्षा में पहले 50 स्थान हासिल करने वाले देशों में अंग्रेजी में शिक्षा देने वाले देशों के स्थान तीसरा (सिंगापुर), दसवां (कनाडा), चौहदवां (आयरलैंड) सोहलवां (आस्ट्रेलिया), अठाहरवां (न्यूजीलैंड) और अठाईसवां (अमेरिका) थे। इन अंग्रेजी भाषी देशों में भी शिक्षा अंग्रेजी के साथ-साथ दूसरी मातृ भाषाओं में भी दी जाती है। पहले 50 में से बाकी 44 स्थान उन देशों ने हासिल किये थे जो अंग्रेज़ी में नहीं पढ़ाते। 2003, 2006 और 2009 में किए गए मुल्यांकानो में भी यही रुझान थे।

भारतीय विश्वविद्यालयों का दुनिया में स्थान :

भारत का एक भी विश्वविद्यालय एशिया के पहले पच्चास में नहीं आता। इन पहले पच्चास विश्वविद्यालयों में एकाध में ही शिक्षा अंग्रेजी में दी जाती है।

अंग्रेजी भाषा और अंतरराष्ट्रीय कारोबार :

सत्तरवीं सदी में (जब एकाध भारतीय ही अंग्रेजी जानता होगा) दुनिया के व्यापार में भारत का हिस्सा 22 (बाईस) प्रतिशत था जो 1950 में मात्र 1.78 भर रह गया था और अब केवल 1.50 प्रतिशत है।

क्या उच्चतर स्तर की विज्ञानों की शिक्षा भारतीय भाषाओं में हो सकती है :

चिकित्सा विज्ञान के कुछ अंग्रेजी शब्द और इनके हिंदी समतुल्य यह स्पषट कर देंगे कि ज्ञान-विज्ञान के किसी भी क्षेत्र के लिए हमारी भाषाओं में शब्द हासिल हैं या आसानी से प्राप्त हो सकते हैं।

सफल शिक्षा के लिए भाषा पर दुनिया भर के विशेषज्ञों की रायः

दुनिया भर के शिक्षा और भाषा विशेषज्ञों की राय और तजुर्बा भी यही बताता है कि शिक्षा सफलतापूर्वक केवल और केवल मातृ भाषा में ही दी जा सकती है।

विदेशी भाषा (जैसे अंग्रेजी) सीखने की सर्वोतम विधि :

दुनिया भर में हुई खोज बताती है कि अगर शिक्षा एक सी हो तो मातृ भाषा माध्यम में शिक्षा हासिल करने वाला और विदेशी भाषा को एक विषय के रूप में पढ़ने वाला शिक्षार्थी विदेशी भाषा भी उस शिक्षार्थी से बेहतर सीखता है जिसे आरम्भ से ही विदेशी भाषा माध्यम में पढ़ाया गया हो।

भाषा के जीवन और विकास का शिक्षा के माध्यम होने से सम्बन्ध :

आज के समय में किसी भी भाषा के जिन्दा रहने और विकास के लिए उस भाषा का शिक्षा का माध्यम होना आवश्यक है।

भारतीय संविधान और भारतीय भाषाएँ :

भारतीय संविधान भी यही निर्देश देता है और हर भारतीय को यह हक़ देता है कि उसे अपनी भाषा में शिक्षा और सेवायें हासिल हों (देखिए धारा 347 और 350 ए)।

आलेख

मर रही भारतीय भाषाओं के पुनर्जीवन की चुनौती

डा. किंशुक पाठक

सहायक प्राध्यापक

दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय पटना

तीन सौ से अधिक भारतीय भाषाओं की अकालमृत्यु के द्वार पर पहुंचने की खबर से कोई खलबली नहीं मची। यह चिन्ता का विषय होना ही चाहिए। भाषा मानव संचार का मूल आधार है। भाषा के क्षेत्र में विकास का मसला संचार की प्रक्रिया से सीधे जुड़ा है। प्रतीकों की भाषा, बिन्दु-रेखाओं से सृजित भाषा, आंगिक भाषा जैसे अनेक भाषाई स्वरुपों के संचार-सार्मथ्य को सभ्य समाज ने खूब पहचाना है और महत्व दिया है। फिर भारत की भाषाओं की मृत्यु की आशंकाओं का समाचार और आंकड़े हमें क्यों नहीं कुरेदते और इन्हें बचाने, भाषाओं को सजाने-संवारने को हमें क्यों नहीं उद्वेलित करते?

भारत का पहला भाषाई सर्वेक्षण अंग्रेज अधिकारी जार्ज ग्रियर्सन की अगुवाई में पूरा किया गया था। उसके बाद भारत की भाषाओं की सुधि लेने वाला कोई नहीं रहा। प्रायः आठ दशक के लंबे अंतराल के बाद भारतीय जन-भाषाई सर्वेक्षण (पीपुल्स लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया) की छः खण्डों में 2012 में प्रकाशित रिपोर्ट चौंकाने वाली है और भारतीय भाषाओं से जुड़े अनेक अनछुए पहलुओं को सामने लाती है। पब्लिक लिंग्विस्टिक सर्वे के अध्यक्ष डा. गणेश देवी की मानें तो भारत की कोई बीस प्रतिशत भाषाएं विलुप्त हो चुकी हैं। आज उनका कोई अतापता भी नहीं है। प्रमाणों के आधार पर सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि ये भाषाएं कभी न कभी अस्तित्व, प्रचलन और चर्चाओं में अवश्य ही विद्यमान थीं।

इस भाषाई सर्वेक्षण की रिपोर्ट से स्वयं ही स्पष्ट है कि अभी तक भारत की 310 भाषाओं के विलुप्त हो जाने के जो तथ्य सामने आये हैं, वे इस अपूर्ण रिपोर्ट के तथ्य हैं। रिपोर्ट के पूरे होने पर विलुप्त भाषाओं की संख्या और भी बढ़ सकती है। स्वयं इस सर्वेक्षण के प्रमुख मानते हैं कि यह सर्वेक्षण अभी पूरा नहीं है। सर्वेक्षण के प्रमुख डा. गणेश देवी के अनुसार - अभी तक हमारा सर्वेक्षण केवल मध्यप्रदेश, गुजरात, छत्तीसगढ़, कर्नाटक, तमिलनाडु, राजस्थान, उत्तराखंड, हिमाचल प्रदेश, पश्चिम बंगाल, जम्मू - कश्मीर तथा उड़ीसा इन 11 राज्यों में ही पूरा हुआ है। भारतीय भाषाओं के विलुप्त होने से सम्बन्धित ये तथ्य अभी पूर्ण नहीं हैं और सर्वेक्षण भी पूर्ण नहीं है। आगे भी सर्वेक्षण का काम जारी रहेगा।

भारत की भाषाओं से सम्बन्धित स्वतंत्र भारत के इस प्रथम भाषाई सर्वेक्षण से अब तक प्राप्त प्रारंभिक निष्कर्षों के अनुसार जो प्रवृत्तियां सामने आई हैं, उनसे स्पष्ट है कि लगभग 20 प्रतिशत भाषाएं मर चुकी हैं या मृतप्रायः हैं। इस भाषाई सर्वेक्षण के प्रमुख डा. गणेश देवी के ये अभिमत भी चौंकाने वाले हैं - समाज वैज्ञानिक आधार पर बहुभाषाई वातावरण और प्रयोगों का अध्ययन एवं परीक्षण सर्वेक्षण का एक मुख्य आधार बिंदू रहा है और इस विषय में यह स्पष्ट तथ्य सामने आया है कि अब देश में बड़े-बड़े शहर 'भाषाई या भाषा आधारित राज्य' की संकल्पना को साकार नहीं करते। जैसे - महाराष्ट्र मराठी भाषी राज्य माना जाता रहा है पर इस राज्य की राजधानी मुंबई तो स्पष्ट रुप से बहुभाषाभाषी है या कहें तो यह केवल एक राज्य की राजधानी ही नहीं अपितु बहुभाषाई संस्कृति का राष्ट्रीय केन्द्र या 'राष्ट्रीय नगर - नेशनल सिटी' बन चुका है।

भाषा की स्थिति और जनगणना के आंकड़ों की प्रस्तुति तथा विश्वसनीयता पर भी सवाल उठने स्वाभाविक हैं। 1961 की जनगणना में 1652 मातृभाषाएं दर्ज की गईं। 1971 में मातृभाषाओं की यह संख्या बेहद घटकर 109 की संख्या पर पहुंच गई। 1971 की जनगणना में भाषाओं की दो श्रेणियां निर्धारित थीं - पहली संविधान की आठवीं अनुसूची की भाषाएं तथा दूसरी कम-से-कम दस हजार लोगों द्वारा प्रयोग की जाने वाली भाषा। स्पष्ट है कि भाषाई सर्वेक्षण से जुड़े विशेषज्ञ गणना में शामिल हर व्यक्ति द्वारा दी गई भाषा की जानकारी को भाषा की सूची में 'भाषा' मानकर जोड़ न सके। दस हजार से कम लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं को सिर्फ एक सूची 'अन्य' में डाल दिया गया।

भाषाई सर्वेक्षण के निष्कर्षों के अनुसार कुल 310 भाषाएं, जो 263 से भी कम लोगों द्वारा बोली जाती रही हैं और 47 ऐसी भाषाएं जो एक हजार से भी कम लोगों द्वारा प्रयुक्त होती रहीं, अब समाप्ति के कगार पर हैं। ये सभी भाषाएं 1961 की जनगणना में मातृभाषा की कोटि की 1652 भाषाओं में शामिल रही है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि भारत की भाषाई परम्परा और अस्मिता का पांचवां हिस्सा पिछली आध ाी शताब्दी के दौरान विलुप्त हो चुका है या हो रहा है।

भाषाई सर्वेक्षण के प्रमुख का यह कहना तार्किक है कि 'यद्यपि भाषायी क्षति के आकलन का वैज्ञानिक आधार तो नहीं है परन्तु हाल के वर्षों में पुरानी पीढ़ी (60 से 80 वर्ष की अवस्था) और युवापीढ़ी (10 से 30 वर्ष की अवस्था) के बीच ऐसा अभूतपूर्व भाषायी अन्तराल ('लैंग्वेज गैप') सामने आया है, जैसा भारत में पहले कभी नहीं रहा। यहां तक कि 'टीन एज' से ऊपर 20 की उम्र तक पहुंचे अधिकांश युवा एक ही भाषा में पूरा का पूरा एक भी सही वाक्य नहीं लिख - बोल

सकते। वे तो मराठी में हिन्दी, हिन्दी में अंग्रेजी, गुजराती में अंग्रेजी और यहां तक कि अंग्रेजी में भाषाओं ही नहीं बोलियों के भी शब्दों और वाक्य संरचना के व्याकरण का घालमेल धड़ल्ले से कर रहे हैं।'

फिर भी भाषायी आयोग के प्रमुख के अनुसार 'भाषाई परिवर्तन' (लैंग्वेज माइग्रेशन) रोजी-रोटी से जुड़ा सवाल है। यह हकीकत है। नये भाषाई क्षेत्रों में रोजी-रोटी के लिए जाने वाले अपने पुराने भाषा संस्कारों को साथ लेकर आते-जाते हैं और नये क्षेत्र की भाषा को जाने-अनजाने नये-नये संस्कार प्रदान करते हैं।

भारत के पूर्वी और उत्तरी राज्यों में भाषा की विविधताएं काफी अधिक हैं। भाषायी सर्वेक्षण के अनुसार भाषाई विविधता के मामले में उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु सबसे नीचे हैं, यानी यहां भाषा की विविधता या विभिन्नताएं सबसे कम हैं। किन्तु भाषायी सर्वेक्षण की प्रक्रिया अत्यन्त सीधी रही है, जो भाषा के अनेक पक्षों को अपने अध्ययन में समेटती नहीं। यह सर्वेक्षण भाषाओं के स्थानीय इतिहास के पक्ष पर तो बल देता है पर उसके प्रयोग के विविध स्वरुपों आदि को संदर्भित नहीं करता। संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल भाषाओं से जुड़े व्याकरण, संगीत, मानवीय संबंधों से जुड़े पक्षों को शामिल करते हुए रिपोर्ट के 12 खण्ड तैयार हैं। कुल 6000 पृष्ठों में समाहित इन खण्डों के अतिरिक्त 30 और खण्डों तथा 20 हजार पृष्ठों के प्रकाशन की योजना है। बहुविषयी 'नेशनल कलेक्टिव एडिटोरियल स्कालर्स' द्वारा संपादित तथा 1800 लोगों की टीम द्वारा सम्पन्न किया जा रहे सर्वेक्षण के इस कार्य की रिपोर्ट ऐतिहासिक महत्व की होनी स्वाभाविक है।

डा. गणेश देवी के अनुसार - विश्व के बहुभाषायी देशों जैसे इंडोनेशिया, नाइजीरिया, कैमरुन, कांगो, ब्राजील और आस्ट्रेलिया में भी हमारा भाषायी सर्वेक्षण-अध्ययन का कार्यक्रम है। इसके लिए हमने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का फेडरेशन - 'इन्टरनेशनल भाषा प्रिसीडियम' बनाया है। हम इसके द्वारा अध्ययन कर पूरे विश्व की भाषाओं का एक समन्वित लेखा-जोखा तैयार करना चाहते हैं।

भाषा संबंधी अध्ययनों से मिल रही चेतावनी हमें आई.सी.यू. में पड़ी भारतीय भाषाओं की वापसी के लिए क्या उद्वेलित नहीं करती? भाषाओं या शब्दों का मरना संचार और विचार की अकाल मृत्यु है। हमारा छीजता हुआ शब्द-भण्डार हमारे सांस्कृतिक अस्तित्व के तिल-तिल मरने की प्रक्रिया है। भारत सरकार ने 'लिंग्विस्टिक माइनारिटीज कमीशन' का गठन किया है, जो साल भर केवल कागजी खानापूरी में लगा रहता है। नाममात्र के लिए इलाहाबाद में अस्तित्व में वर्षों से सुस्त पड़ा हुआ यह आयोग भी साधनों और सरकार के पर्याप्त ध्यान न देने के कारण मृतप्राय सा ही है।

जो भी हो, भाषाओं के पुनर्जीवन की यह चुनौती सरकार और भारतीय परम्पराओं तथा मूल्यों के संरक्षण के लिए समर्पित संस्थाओं के सामने मुंह बाये खड़ी है।

●●

अविनाश सैनी की कविता

हिन्दी

हिन्दी मेरे देश की पहचान है।
सारे जग में इसकी ऊंची शान है।।

तुलसी, सूर, रहीम ने इसको अपनाया
मीरा और कबीर ने भी इसमें गाया
सींचा इसको नानक और रैदास ने
रसखान ने प्रेम का अमृत बरसाया
संवेदनाओं को देती यह विस्तार है
शोषण से लड़ने का भी हथियार है
गूंज है इसमें न्याय की अभिव्यक्ति की
विद्रोही स्वरों की तीखी धार है।

दुनिया भर का इसमें सिमटा ज्ञान है।
हिन्दी मेरे देश की पहचान है।।

गंगा-जमुनी तहजीब है इसमें तो
खुशबू है अपनेपन की एक न्यारी सी
संस्कृत है थोड़ी इसमें उर्दू है
भोजपुरी, अवधी, पंजाबी प्यारी सी
फारसी, ब्रज, मैथिली, राजस्थानी
गुथी हुई है इसमें अपनी हर इक बानी
हिन्दी तो है बहती एक पावन धारा
विभिन्न बोलियों का है जो संगम प्यारा

सबने मिलकर इसमें फूंकी जान है
हिन्दी मेरे देश की पहचान है

2

हिन्दी है अवाम की भाषा
हर खास और आम की भाषा
मन के उद्‌गारों की भाषा
उत्तम संस्कारों की भाषा
राज्यों की सरहद के पार
हर मजहब का इसमें सार
फिर क्यों न इसको अपनाएं
हिन्दी में संवाद बढ़ाएं।

मातृभाषा है इसको देना मान है।
हिन्दी मेरे देश की पहचान है।।

1355/21, चुन्नीपुरा, रोहतक

व्यंग्य

कितनी मेहनत से अँग्रेजी आई है

सन्तोष श्रीवास्तव

पेश है अँगरेजी माध्यम से पढ़कर निकले एक कस्बाई नौजवान की इंग्लिश में लिखी डायरी के कुछ अंशों का हिन्दी अनुवाद। इस नौजवान को अब हिन्दी में लिखना-पढ़ना नहीं आता। अतः अनुवाद में हुई गलतियों का कोई जिम्मेवार नहीं है :

पापा और मम्मी को पड़ोसियों से यह सलाह मिली कि बच्चे को हिन्दी के नहीं अँगरेजी के शब्द सिखाओ। इससे उसे अँगरेजी सीखने में मदद मिलेगी।

जब स्कूल जाने को हुआ तो पापा के दोस्तों ने उन्हें लताड़ लगाई कि अब हिन्दी छोड़कर अँगरेजी अपना लो। अपने बच्चे को हिन्दी मीडियम के स्कूल में डालोगे क्या? और खुद भी अँगरेजी बोलना सीख लो वरना तुम्हारे कारण से तुम्हारा लड़का सरकारी स्कूल में पढेगा। बेचारे पापा ने इंग्लिश बोलना सिखाने वाली कोचिंग में दाखिला लेकर अँगरेजी सीखने के लिये बहुत मेहनत की। पापा जो सीख कर घर आते मम्मी को सिखाते।

पापा और मम्मी घर में मेरे सामने अँगरेजी की फिल्में और धारावाहिक (सीरियल) देखने लगे। वैसे तो वे हिन्दी की फिल्में और धारावाहिक देखते पर मेरे आते ही अग्रेजी के चैनल लगा दिये जाते। मुझे अंग्रेजी जो सिखानी थी!

अंग्रेजी का अखबार घर में आने लगा। मम्मी के पास इसका एक और बहाना था - अंग्रेजी अखबार की रद्दी महंगी बिकती है!

दाखिले से हफ्ते-दस दिन पहले मम्मी और पापा ने एक-दूसरे के अंग्रेजी में साक्षात्कार यानि इंटरव्यू लिये। एक-दूसरे के अंग्रेजी ज्ञान को तराशा गया। मेरे भी ज्ञान को खासकर अंग्रेजी ज्ञान को बार-बार परखा गया।

दाखिले के लिये साक्षात्कार वाले दिन मुझे बहुत सवेरे जगा दिया गया और मम्मी-पापा ने ही मेरा बहुत देर तक बार-बार साक्षात्कार लिया और यह रटाया कि अंग्रेजी में किस प्रश्न का क्या जवाब देना है ।

स्कूल में शिक्षक, जो अब टीचर जी हो गये हैं, मुझसे अंग्रेजी में बोलीं और मेरा नाम, पापा का नाम, रहने वाले शहर का नाम, पापा की नौकरी के बारे में अंग्रेजी में सवाल पूछे। मुझसे अंग्रेजी की पोयम पूछी तो मैंने दोस्तों से सीखी मछली जल की रानी है सुना दी। टीचर जी ने मम्मी-पापा को डाँटा और बोलीं कि आप लोगों ने इसे यही सिखाया है? मम्मी ने मुझे एक झापड़ रसीद किया और कहा कि ये फालतू की पोयम तुमने कहाँ से सीखी? बा बा ब्लैक शीप और ट्विकल-ट्विंकल लिटिल स्टार वाली कितनी तो सिखाईं थी तुम्हें?

सुना है इसके पहले पापा और मम्मी का अंग्रेजी ज्ञान उन्हें अलग कमरे में ले जाकर परखा गया था। पापा-मम्मी इस बीच में इसीलिये मुझे छोड़कर यह कहकर चले गये थे कि वे देखकर आते हैं कि स्कूल कैसा है?

मैं रोज स्कूल जाने लगा। घर में मम्मी-पापा और स्कूल में टीचर जी सदा दबाव डालते रहते कि अंग्रेजी में ही बातचीत करनी है। एक बार तो घर में मम्मी यह देखकर नाराज हो गईं कि मैं टीवी पर हिन्दी का सीरियल देख रहा था। आप किसी को बताना नहीं मैं हर दिन स्कूल में पाँच-दस बेंत की सजा हिन्दी बोलने पर खाता हूं। पापा और मम्मी को भी मैं हिन्दी में बोलने की अपनी आदत के कारण टीचर जी से लताड़ दिलवा चुका हूँ। हद तो तब हो गई जब हमारी प्रिंसिपल मैडम ने मम्मी-पापा को बुलाकर मेरी शिकायत की कि देखिये आपके बच्चे के कारण हमारे स्कूल का वातावरण खराब हो रहा है। यह मानता ही नहीं और बच्चों से हिन्दी में बात करता है । इससे वे बच्चे भी हिन्दी में बोलने लग जाते हैं। यदि आप अपने बच्चे को ठीक नहीं कर सकते तो हम उसे स्कूल से निकाल देते हैं। हिन्दी से आप लोगों को यदि इतना ही प्रेम है तो इसे हिन्दी माध्यम के स्कूल में पढ़ाईये। बच्चे इस तरह हिन्दी बोलते रहेंगे तो इंसान कैसे बनेंगे? मम्मी ने तो इसके बाद दो दिन तक मुझसे बात नहीं की। कान पकड़ कर माफी मांगने के बाद मम्मी ने मुझे कसकर गले से लगा लिया और खूब रोईं। पापा और मम्मी का दुखी होना मुझसे नहीं देखा जाता। इसलिये मैंने फैसला कर लिया कि स्कूल में अब कभी हिन्दी नहीं बोलूंगा।

मुझे स्कूल में जरा भी अच्छा नहीं लगता। पर यह बात मैं अपने मम्मी-पापा को नहीं बता सकता। वे दुखी हो जायेंगे न। लेकिन मुझे पढ़ना है और बड़ा अफसर, डॉक्टर या इंजीनियर बनना है तो इसी स्कूल में रहना पड़ेगा ।

मैं सबसे ज्यादा खुश अपने मोहल्ले के दोस्तों के साथ रहता हूँ। वहाँ हम सब हिन्दी में बात करते हैं। बड़ा मजा आता है। स्कूल में तो अब खेलते समय भी हिन्दी की बोलने की मनाही है।

आजकल स्कूल में क्या पढ़ाया जा रहा है, कुछ समझ में नहीं आता। मन पढाई से उचट सा गया है। जी करता है सब कुछ छोडंकर कहीं भाग जाऊं। पर पापा-मम्मी का चेहरा याद आते ही हिम्मत टूट जाती है। मेरी मम्मी कितनी अच्छी है मेरे साथ दो-दो घंटे बैठकर मेरा होमवर्क करवाती है। पापा भी ऑफिस से थके-हारे आते हैं फिर भी वो मेरे साथ अँगरेजी और गणित में कितनी मेहनत करते हैं। वे कहते हैं कि बेटा बिना अंग्रेजी तुम कुछ भी नहीं बन पाओगे। इसलिये जहां तक हो सके रट लो। इतना रट्टा लगाओ कि सब याद हो जाये। एक बार मैंने उनसे पूछा कि पापा आप भी ऐसे ही रट्टा लगाते थे? उन्होंने कहा कि हम क्यों रट्टा

लगायेंगे? हम तो हिन्दी में पढ़ते थे सब अपने आप समझ में आ जाता था। पढ़ाई करने के दो ही तरीके हैं। समझ-समझ कर पढ़ो और समझ न आये तो रट डालो। अंग्रेजी में पढ़ोगे तो समझ में कहां से आयेगा? इसलिये रट डालो। समझने के लिये तो जिंदगी पड़ी है। अच्छे नम्बर आने चाहिये भले ही रट कर आयें। आगे चलकर सब नम्बर देखेंगे। सारी परीक्षाओं को इसी तरह रट रटकर पास कर लेना है। कल तुम बडे अफसर, डॉक्टर या इंजीनियर बन गये तो कौन कहेगा कि तुम रट रटकर यहां तक पहुंचे हो और ज्ञान तो बेटा रट्टुओं की जुबान पर रहता है। ज्ञान दिमाग तक पहुंच जाये ऐंसा युग अपने देश में अब आने से रहा। तुम्हें बड़ा अफसर, डॉक्टर या इंजीनियर बनना है वैज्ञानिक नहीं। वैज्ञानिक तो भूखे मरते हैं। उनकी कोई कदर नहीं होती।

इस छमाही में नम्बर काफी गिर गये। पापा को लगता है वो उतनी अच्छी तरह मुझे नहीं पढ़ा पा रहे हैं। उन्होंने एक सर से बात की है। ट्यूशन के लिये। काफी पैसे माँग रहे थे पर पापा ने हां कर दी है। अब शाम को मैं खेलने की जगह ट्यूशन पढ़ने जाया करूंगा। मुझे अपना भविष्य बनाना है। पापा आज वही फटी शर्ट पहनकर ऑफिस चले गये। मेरी अच्छी नौकरी लग जायेगी तो पापा को ढेर से कपड़े खरीदकर दूंगा।

मैं आठवीं क्लास में पहुंच गया। अच्छी खासी अंग्रेजी बोल लेता हूँ। मैं अपने मम्मी- पापा की तुलना में दादा-दादी के ज्यादा करीब हूँ। क्योंकि वे मुझसे हिन्दी में बात करते हैं। मेरी मम्मी को मेरा दादा-दादी के पास जाना ज्यादा पसंद नहीं है। एक दिन मम्मी दादी से कह रही थीं कि आप लोग उसकी भाषा खराब कर दे रहे हो।

मैं अपने दोस्तों के साथ जरा सा खेलने जाता हूँ तो मम्मी मुझे फौरन बुला लेती है। कहती है पढ़ना लिखकर बड़ा आदमी बनना है या यूँ ही मटरगस्ती करते रहोगे।

दादा-दादी जब हमारे घर आते हैं तो उनके लिये अलग कमरे में अलग टीवी लगवा दिया गया है। वे हिन्दी के सीरियल और फिल्में देखते हैं न!

अब मैं बारहवीं पास करके कॉलेज में आ गया हूं। मैं सोचता था कि मेरी अंग्रेजी अच्छी है पर यहाँ मेरी अँगरेजी का बड़ा मजाक उड़ाया जाता है। मेरे साथ वाले कहते हैं कि मेरा लहजा हिन्दी वाला है। कुछ बच्चे तो मेरा गँवार और एचएमटी कहकर मजाक उड़ाते हैं। कुछ ने मुझे अंग्रेजी बोलना सिखाने की क्लास में जाने की सलाह दी है। पर उसकी फीस? पापा तो इतने पैसे में पूरे परिवार का महीने भर का खर्च चलाते हैं।

भाषा की अक्षमता मेरी कमजोरी नहीं बन सकती मैं अंग्रेजी फिल्में और सीरियल देखकर उनके जैसे बोलने की कोशिश करता हूं।

अब मैं बालिग हूँ। मेरी अंग्रेजी पर अच्छी पकड़ है और अमेरिकन तरीके से नाक से किये जाने वाले उच्चारण पर ऐसी पकड़ है कि खुद मुझे हंसी आ जाती है। मुझे हिन्दी बोलने, हिन्दी फिल्में और सीरियल देखने और अखबार-पत्रिकायें पढ़ने से सख्त नफरत है। नफरत थोड़ा कड़वा शब्द है पर इसकी जगह दूसरा शब्द मुझे सूझ नहीं रहा। मैं कैसे बताऊं कि मैं सिर्फ टूटी-फूटी हिन्दी बोल पाता हूँ। दरअसल मैं बोलता हिन्दी ही हूँ पर अब उसमें मेरे न चाहते हुए भी इंगलिश के शब्द आ जाते हैं। आप मेरी भाषा को हिंग्लिश कह सकते हैं। अब न मुझे हिन्दी पढ़ना आता है न लिखना। मेरे दादा-दादी कहते हैं कि मैं पूरा अँगरेज हो गया हूँ। पापा-मम्मी को अब जाकर लगता है कि उनकी मेहनत सफल हुई।

पूरे देश में अंग्रेजी के खिलाफ आंदोलन चल रहा है। पहले मैं सोचता था कि ये लोग बेवकूफ हैं। पर अब मुझे इन से सहानुभूति है। जिस जिल्लत से, जिस मेहनत से मैंने अंग्रेजी सीखी है वह शायद ये लोग नहीं सहन कर पाये होंगे। इन्होंने शायद उस टीचर पर हाथ उठा दिया होगा जिसने इनकी हिन्दी बोलने पर पिटाई की होगी। ये अपने दोस्तों से खुलकर बोलते हंसी-मजाक करते रहे होंगे। इन्होंने अपने दादा- दादी का भरपूर दुलार पाया होगा। इनके माता-पिता इनको स्वतंत्र रखने में विश्वास रखते होंगे। जो चाहे पढ़ो जो चाहे फिल्म देखो जो चाहे सीरियल देखो। लेकिन ये मेरी नजर में ही खुशनसीब हैं। दुनिया की नजर में और हकीकत में तो ये बड़े बदनसीब हैं। इनके लिये कोई नौकरी नहीं है। इनके लिये न्याय के रास्ते बंद हैं। ये कोई परीक्षा पास नहीं कर सकते क्योंकि वहाँ अंग्रेजी जरूरी रहती है। ये लोग तो अब छोटा-मोटा रोजगार या छोटी-मोटी नौकरी के भी लायक नहीं रह गये हैं। लड़कर भी ये क्या प्राप्त कर लेंगे। इन्हें सिर्फ डंडा मिलेगा डंडा।

मेरे मम्मी-पापा कितने खुशनसीब हैं कि उनके पुत्र का खून भी नहीं बहा और उसे बढ़िया नौकरी भी मिल गई।

मैं बहुत भ्रमित हूं। सच तो ये है कि मेरे दिमाग से हिन्दी कभी बाहर गई ही नहीं। मैं मूल रूप से सोचता हिन्दी में हूं और सारा काम अंग्रेजी में करना पड़ता है। मेरे दिमाग को दोहरा काम करना पड़ता है। कभी-कभी तो मैं अपने भाव प्रकट नहीं कर पाता। मेरी सोचने की शक्ति पर जैसे जंग लग गई है। मैं नई बातें सोच ही नहीं पाता। मेरा ज्ञान किताबों और कम्प्यूटर का गुलाम बन गया है।

समझ नहीं आता मैंने क्या पाया है और क्या खो दिया है। भेडचाल में फंस कर मेरे मम्मी-पापा ने मेरा बचपन छीन लिया था। अब सब कहते हैं मैं अधिक आक्रामक हो गया हूं। मेरे स्वभाव से विनम्रता गायब हो गई है। कस्बे में रहकर हिन्दी माध्यम से पढ़े-पले-बढ़े मेरे मां-बाप अब मेरी अँग्रेजियत की आग में झुलस रहे हैं। अब मम्मी- पापा भी मेरी खीझ से बच नहीं पाते।

एक दिन पापा मम्मी से कह रहे थे कि यदि हिन्दी माध्यम से पढ़कर हमारे बच्चे को उच्च शिक्षा मिलती, नौकरी मिलती, वह जज, इंजीनियर, डॉक्टर या वकील बन पाता तो हम उसका बचपन क्यों छीनते? जबरदस्ती उसे इंग्लिश मीडियम में क्यों पढ़ाते? अपनी भाषा से उसे क्यों दूर करते? क्यों उसे मजबूर करते कि वह आधा अंग्रेज बन जाये? मुझे याद है पापा की इस बात पर मम्मी ने कुछ नहीं कहा था, आँखें झुकाकर एक लम्बी निःस्वास ली थी बस!!!

मानिक गढ़, सीमेंट कहान चैंबर्स, इंदौर रोड खंडवा (म.प्र.)

पॉपुलर हरियाणवी गीत : बनती भाषा, बदलती ज़ुबान

नवीन रमन

पॉपुलर हरियाणवी गीत अपनी भाषा,विषय-वस्तु और प्रस्तुति के स्तर पर पारंपरिक लोकगीतों और सांग-रागनियों से बिल्कुल अलग है। इस भिन्नता को उभारने में सबसे अहम भूमिका निभाई है- बाजार(कैसेट/सीडी/डीवीडी) ने। पारंपरिक मौखिक गेय साहित्य मनोरंजन,शिक्षा और समाज के सुख-दुःख आदि को अभिव्यक्त करने का सामूहिक माध्यम रहा है। डॉ. परमानंद के शब्दों में कहें तो "भाषाएं लोक-व्यवहार का दर्पण होती है।"[1] परंतु बाजार के दखल ने इसे सामूहिक और व्यक्तिगत दोनों रूपों में उपलब्ध कराया है,जो कि धीरे-धीरे मनोरंजन के साथ-साथ सामाजिक धरातल पर विमर्श का हिस्सा बनकर उभर रहा हैं। विकल्प के तौर पर शुरू हुए इन पॉपुलर हरियाणवी गीतों का व्यावसायिक पक्ष भी बेहद महत्वपूर्ण है। दूसरी ओर ये राग-रागनियां और पॉपुलर गीत छोटे से छोटे गांव, कस्बे, शहर और महानगर आदि में (कैसेट/सीडी / डीवीडी/मोबाईल-चिप/पैन-ड्राइव आदि) हर जगह उपलब्ध है। इसके अलावा यह किसी घर की बैठक, पब्लिक ट्रांसपोर्ट ,शादी-ब्याह, स्कूल-कॉलेज-यूनिवर्सिटी आदि के सांस्कृतिक कार्यक्रमों, सरकारी कार्यक्रमों और रैलियों आदि में सुनने को मिलते हैं। यानी इनकी डिमांड और सप्लाई का गुणा-गणित लिखित साहित्य की तुलना में कहीं ज्यादा सटीक है। इन सब परिस्थितियों को देखते-समझते हुए कुछ सवाल स्वाभाविक रूप से उठते हैं जैसे-

आखिर इतने व्यापक जनसमूह तक की पहुंच वाले गीतों की उपेक्षा क्यों? क्या यह उपेक्षा समाज,संस्कृति और भाषा की उपेक्षा नहीं है? क्या हरियाणवी गीत लिखना-गाना और सुनना, शिक्षक-साहित्यकार-बौद्धिक-आलोचक आदि की नज़र में असभ्य एवं असांस्कृतिक कर्म है? जबकि सांस्कृतिक जगत में गीत-संगीत उच्च-कोटि पर विराजमान हैं, तब हरियाणवी गीत उपेक्षित होने के साथ-साथ खारिज़ की श्रेणी में क्यों हैं? हालांकि लोकगीत,सांग-रागिनी आदि को सांस्कृतिक धरोहर माना जाता हैं,परंतु इन पॉपुलर हरियाणवी गीतों को फूहड़ और असभ्य की श्रेणी में डाल दिया गया हैं।

पॉपुलर हरियाणवी गीतों का हरियाणवी भाषा की प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता में महत्वपूर्ण योगदान हैं। ऐसे में यह सवाल उठता है कि हरियाणवी भाषा को समृद्ध कौन कर रहा है? यह पॉपुलर हरियाणवी गीत या शिष्ट लिखित साहित्य? दरअसल जिस परंपरा से साहित्यकार अपने को जोड़ते है, वह भी अपने समय का लोकप्रिय मौखिक गेय (पॉपुलर) साहित्य रहा है।हरियाणवी सिनेमा और गीत-संगीत हरियाणवी लोक-समाज के मनोरंजन,शिक्षा और ज्ञान-अनुभव के सबसे प्रमुख माध्यम आरंभ से रहे हैं और आज भी उसी तरह बने हुए है।इसका तात्पर्य यह हुआ कि हरियाणा में आज भी पढ़ने-लिखने से ज्यादा श्रव्य-दृश्य माध्यमों की पकड़ कहीं अधिक गहरी हैं।

लोकभाषा के रूप में हरियाणवी निरंतर गतिशील रही है और मौखिक परंपरा से होते हुए लिखित एवं श्रव्य-दृश्य (आडियो-वीडियो) माध्यमों के जरिए एक सवैंधानिक भाषा का दर्जा प्राप्त करने के संघर्ष में सक्रिय है। इस आंदोलन में सक्रिय विद्वानों ने हरियाणवी को 'हिन्दी की सहभाषा'[2] के रूप में स्वीकार किए जाने पर बल दिया है तथा 'खड़ी बोली को हरियाणवी का शहरी संस्करण'[3] माना है। भाषाएं भले ही चलती-ढलती अपनी ही चाल में हो,पर जब तक उनको विकसित और समृद्ध होने के अवसर उपलब्ध नहीं होंगे,तब तक वह उस गति से विकसित नहीं हो सकती ; जो उन्हें होना चाहिए। सरकार की नीतियां और उपेक्षाओं ने हरियाणवी को विकसित होने से रोका है। डॉ. राहुल सांकृत्यायन की समझ इस मामले में बिल्कुल साफ थी कि " जनपदीय बोलियां सजीव भाषाएं हैं,उनके बोलने वाले कर्मठ किसान-मजदूर हैं, आज भी उनमें लोक-साहित्य की रचना हो रही है। अतः जब हम इस असंख्य जनता को शिक्षित बनाने की बात करें तब हमें यह भी सोच-समझ लेना चाहिए कि इन जनपदीय भाषाओं का विकास करना है ताकि वे भविष्य में जनपदीय पार्लियामैंटों में बोली जाएं,कचहरियों में लिखी जाएं,प्राइमरी पाठशालाओं से लेकर विश्वविद्यालयों तक शिक्षा का माध्यम बनें। उनमें पत्र-पत्रिकाएं निकलें,फिल्में तैयार हों और उनके अपने रेडियो स्टेशन हों।"[4] वर्तमान समय में जनसंचार के विभिन्न माध्यमों में हरियाणवी की बढ़ती हुई दखल इस आंदोलन का सकारात्मक पहलू है।

बदलती ज़ुबान : पॉपुलर हरियाणवी गीतों की भाषा,विषय-वस्तु और प्रस्तुति को लेकर ही सबसे ज्यादा सवाल उठते रहे है। पॉपुलर हरियाणवी गीत केवल मनोरंजन का साधन एवं माध्यम भर नहीं रह गए है,बल्कि सत्ता-विमर्श और वर्चस्व की रणनीति का अहम् हिस्सा बनने लगे हैं। मनोरंजन की जमीन पैदा कर रहे इन पॉपुलर हरियाणवी गीतों में सांस्कृतिक बहुलता के साथ-साथ विभिन्न मुद्दे, संघर्ष, धारणाएं आदि के अनेक पाठ उभर रहे हैं,जिनका विश्लेषण लोकवृत्त(पब्लिक-स्फेयर) के आधार को ध्यान में रखकर किया जा

सकता है, जिसमें एक खास वर्चस्व की राजनीति और विचारधारा भी शामिल है।

संस्कृति की चर्चा चाहे जिस भी रूप में हो,जिस किसी भी काल-खंड की हो,सत्ता से जोड़कर देखे बिना इसका विश्लेषण किया जाना संभव नहीं है। सांस्कृतिक अध्ययनों में भाषा का अध्ययन काफी महत्वपूर्ण माना जाता है। क्योंकि भाषा एक निश्चित परिप्रेक्ष्य को जन्म देती है और उसके इर्द-गिर्द उन आयामों का विस्तार करती है, जिससे कि प्रस्तुति की बहुलता के बावजूद आशय और स्वयं के परिप्रेक्ष्य को लेकर एकरूपता बनी रह सकें। इन पॉपुलर हरियाणवी गीतों की भाषा का जो रूप उभरकर सामने आता है,उसमें हरियाणवी समाज की मानसिकता, सामाजिकता और यूथ-संस्कृति की वो झलक मिलती है,जो हरियाणवी पर की जाने वाली अकादमिक विमर्श की बहस के बाहर निकलती जान पड़ती है। हिंग्लिश भाषा और संस्कृति पर तो फिर भी अध्ययन और चर्चाएं शुरू हो गई है, पर हरिंग्लिश(अंग्रेजी मिक्स हरियाणवी) भाषा और संस्कृति (कल्चर) पर अभी कम ही चर्चाएं शुरू हुई है। हरिंग्लिश भाषा पॉपुलर हरियाणवी गीतों के साथ-साथ लोक-विमर्श का हिस्सा बनकर उभर रही है। भाषाई साम्राज्य के नाम पर इस स्वाभाविक बदलाव को दरकिनार नहीं किया जा सकता। जो कि हर भाषा का स्वभाव होता है,जिसे कबीर 'भाखा बहता नीर' कहते हैं। एक तरह से हरियाणवी मनोरंजन और बाजार के सहारे नई चाल में चलनी-ढलनी शुरू हुई है,इसकी झलक इन सलोगनों में साफ दिखती है-' हरियाणवी मनोरंजन का दूसरा नाम',' 'ताऊ wood', 'ताऊ हरियाणवी'आदि।हरिंग्लिश का चलन साफ तौर पर दो तरह से देखा जा सकता है-

एक हरियाणवी वाक्यों के बीच अंग्रेजी के शब्द -रोमन लिपि और देवनागरी लिपि दोनों में होते हैं। दूसरी तरह की हरिंग्लिश जिसमें पॉपुलर हरियाणवी गीतों के वाक्यों के बीच में

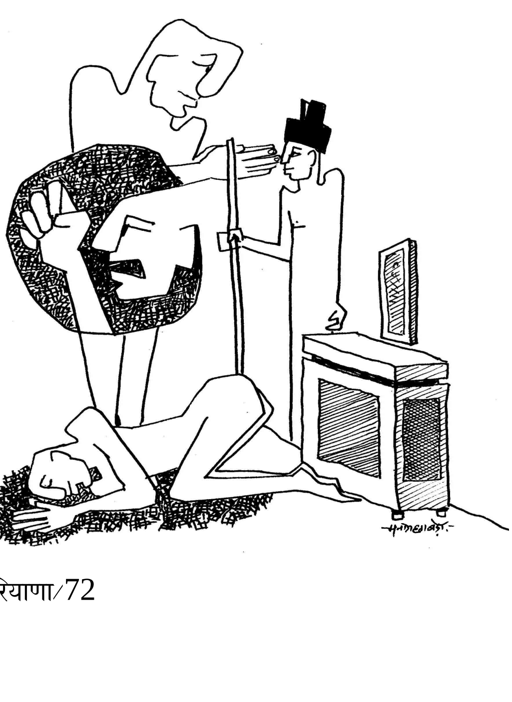

अंग्रेजी के शब्दों का देवनागरीकरण- शीर्षक में सीधे-सीधे अंगरेजी का देवनागकरीकरण-(एंडी छोरा,रिस्की यार, इडियट छोरी, टांका फिट छोरी हिट, जिंस वाली गर्लफ्रेंड, डिफाल्टर, सॉलेड बॉडी, टांका फिट भाभी हिट,) गीत-गौरी हाई लेवल, कह गया हैलो-हैलो जान,जमाना मॉर्डन सै, देशी डयूड, नंबर वन हरियाणा,एंड-बैंड तेरे कई-कई फ्रैंड, मेरा टैम आन दे, आशिकी का बीमा,स्मार्ट फोन,पंडित ब्यॉज,डार्लिंग कह दे आई लव यू ,हरियाणे का सैंपल, आदि।

इन गीतों में एक फर्क साफ दिखता है कि गाते वक्त टॉन और शब्दों का उच्चारण हरियाणवी में होता है,जबकि लिखने के स्तर पर हिंदी का इस्तेमाल किया जाता है जैसे-मेरा टैम आन दे (लिखित रूप) उच्चारित रूप-मेरा टैम आण दे,जमाना मॉडर्न है(लिखित) उच्चारित रूप- जम्माना मॉडरन सै। अतः यह कहा जा सकता है कि आज भी हरियाणवी मौखिक रूप में अपने अस्तित्व को बचाएं हुए है,जबकि लिखित रूप में हम अभी भी अभ्यस्त नहीं हुए है।मेरा खुद का अनुभव यह कहता है कि मैं हरियाणवी बोलने में जितनी सहजता महसूस करता हूं, उतनी लिखने में नहीं। हालांकि इस बीच कई गीतों की भाषा बेहद फूहड़ व भद्दी भी लगती है जैसे- 'एक बहन की टकी ने कर दी भड़क', 'भैण की दीनी', 'इश्क भैण का दीना',और इसके साथ-साथ द्विअर्थी गीत(मेरी ले लिए) भी भले ही कम मात्रा में हो,इनकी भी अपनी एक पुरानी परंपरा रही है,जिसे नंबरी रागणियां कहा जाता है। उनमें तो सीधे-सीधे स्त्री-विरोधी वक्तव्य होते है,जिन्हें अश्लील भाषा के अंतर्गत रखा जाता है।

पॉपुलर हरियाणवी गीतों को केवल ग्रामीण परिवेश के दर्शक-श्राताओं से जोड़कर नहीं देखा जा सकता। ये गीत अब गांवों के साथ-साथ शहरी युवाओं की भी जुबान (हट ज्या ताऊ पाच्छै नै,नाचण दे जी भर कै नै)पर चढ़े हुए हैं,जिनमें पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी के बीच अंतराल,संवादधर्मिता और टकराव को भी दर्शाया गया है।'मैंडम बैठ बलैरो मं' 'जीजा मन्नै ब्याह मैं के देगा', 'धारे पहुंच्या इंगलैंड' आदि ऐसे ही गीत हैं,जिनका कि मनोरंजन के बहाने बनती-बदलती सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं के लिहाज़ से अध्ययन किया जा सकता है।पॉपुलर हरियाणवी गीतों पर अपनी परंपरा के सामाजिक-सांस्कृतिक उद्देश्य के साथ-साथ पंजाबी पॉप के रिमिक्स का तड़का और हिन्दी फिल्मी गीतों की धुन का असर(परोड़ी) साफ दिखता है और इनमें हरियाणवी ज़ुबान के साथ अंग्रेजी, हिन्दी व राजस्थानी आदि भाषाओं के शब्दों का प्रचलन हाल के वर्षों में बढ़ता हुआ नज़र आ रहा है।

भूमंडलीकरण के वैश्विक प्रभाव और कामोन्मादी-लाभोन्मादी अर्थात् मुनाफे की संस्कृति ने समाज,संस्कृति और भाषा सब को प्रभावित किया हैं। इन पॉपुलर हरियाणवी गीतों में रुढिवादिता को बढ़ावा देने वाले और यथास्थिति को बनाए रखने वाले भारतीय एवं हरियाणवी मूल्यों की भी अभिव्यक्ति हुई हैं, जिसमें जाति-व्यवस्था की कट्टरता के साथ-साथ स्त्री को संपत्ति समझने के पूर्वाग्रहों और

धारणाओं को मजबूती प्रदान की है। जबकि बाजार की नज़र में स्त्री उपभोग की वस्तु है,इन गीतों (तेरी सैक्टर 15 में कोठी' 'रोला पतली कमर का' 'तेरे रेट बढ़गे' 'साड़ी में पटोला' 'जवजंस जंससप तवनसं 2' 'टांका फिट भाभी हिट' 'छः भाई एक लुगाई' आज्या डेट पे,तू एक नंबर की छोरी सै,तू बोतल बरगी दिखै सै/तेरा यार शराबी सै सिप-सिप करकै पीऊंगा/तेरी ब्यूटी नै/जणू बाळक नळकी गेल्या चूसै फ्रूटी नै) की भाषा, विषय-वस्तु और प्रस्तुति का विश्लेषण करते हुए यह कहा जा सकता है कि इनमें स्त्री विज्ञापन और उसकी संपूर्ण देह उपभोग की वस्तु की तरह प्रस्तुत हुई है। परंपरा और संस्कृति के नाम पर यहां दुहाई देने वाली पीढ़ी भी सवालों के घेरे में हैं। स्त्री वस्तु हो या संपत्ति, दोनों की सोच-व्यवहार में वह इंसान तो कतई नहीं है।

हरियाणवी समाज की संरचना में जातिगत भेदभाव (जाट्टा का छोरा,मस्त गुजर्र, इन राजपूत के छोरया का पूरी दुनिया मं रूक्का सै,बागड़ की गजब लुहारी,डीजे पै नाच ले लुहारी,छोरा रोड़ा का आदि) से लेकर स्त्री दमन विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुए हैं। स्त्री के पहनावे को लेकर लिखे गए गीतों से इस बात को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है- 'ओ तेरी के आधा गात उगाड़ा कर री'। इसी तरह पितृसत्तात्मक ढांचे के अंतर्गत पनपती पुरुषवादी मानसिकता जिसमें स्त्री के प्रति पारंपरिक सोच को बढ़ावा देते गीत काफी संख्या में है जैसे-' तू डबल फेश की लाईट,गंडा पाड़ खेत ते बाहर,लुहारी-लुहारी,तेरे रेट बढ़गे, साड़ी में पटोला, रोला पतली कमर का, टांका फिट भाभी हिट,टांका फिट छोरी हिट,छोरी मेरठ की हुई जवान,तेरी लांडी कुडती,छः भाई एक लुगाई, मैं मोलड़ गैल्या ब्याहदी, सुन मैडम नखरे आली, इवइल कट, मेरे आलू बुखारे ओ, ना औल्हा ना ढाटा,तू के जिंदल कै ब्याह राखी सै, मैं पहरेदार तेरा, तेरा देखन जोगा आदि है। 'छोरे तन्नै देख मारै किलकी' हरियाणवी समाज में आम बात है,जबकि यह पूरी तरह से स्त्री विरोधी कर्म है।

हरियाणवी समाज में एक तरफ स्त्री-शिक्षा में बढ़ोतरी हुई है, दूसरी तरफ उसके अधिकारों को सीमित भी किया जा रहा है। इन्हीं पॉपुलर गीतों में स्त्री के प्रति सकारात्मक संदेश देने वाले गीत भी है जैसे - 'करो पढ़ाई बहन मेरी' और परिवार में बहु का शिक्षित एवं जागरूक होना भले पुरुष-समाज को खटकता हो पर जैसे-जैसे बहुएं आर्थिक रूप से सक्षम होती जा रही हैं, वैसे-वैसे उनकी जकडबंदी भी कम होती जा रही हैं-' जमाना बहुआं का,' हो या 'बहु की संदूक में बंदूक'जो कि अधिकारों के प्रतीक के रूप में इस्तेमाल की गई है। इसके साथ-साथ सामाजिक संदेश- 'चौबीस घंटे खेले ताश', 'मोटे खर्चे,' आदि के जरिए उस खास वर्ग पर चोट की है,जो सुबह-शाम ताश खेलते है और घर और खेत का काम बहु-बेटियां करती है तथा साथ में बढ़ती महंगाई से बढ़ते खर्च की ओर भी संकेत किया गया है।

अतः हरियाणवी की मौखिक परंपरा को आरंभ में कैसेट उद्योग में स्थान मिला तथा तकनीकी और ढांचागत परिवर्तनों से काफी बदलाव आए। कैसेट संस्कृति ने मौखिक परंपरा की विषय-वस्तु और प्रस्तुति को अपने नियमों के अनुसार बदलना शुरू किया। कैसेट के माध्यम से सुनना दरअसल सार्वजनिक उपभोग का व्यक्तिगत उपभोग में रूपातंरण कहा जा सकता है।जो अब ऑडियो माध्यम से विजुअल माध्यम में बदलता जा रहा है।[5] पॉपुलर हरियाणवी भाषा हिन्दी की बोली(मानी जाती है) के अंतर्गत बोलियों(अहीरवाटी,मेवाती,ब्रजभाषा,कौरवी,बांगड़ी और बांगरू)[6] के राजनीतिक-खेल से अलग अपना स्वतंत्र अस्तित्व विकसित और समृद्ध करती जा रही है। देश की जनसंख्या का करीब 2% और करीब 3 करोड़ के आस-पास इसको बोलने वालों की संख्या मानी-बताई जाती है। जबकि इसका प्रचार-प्रसार हाल के वर्षों में बढ़ता हुआ दिखता है। हिन्दी सिनेमा में तन्नू वेड्स मन्नू रिटर्न्स,मटरू की बिजली का मंडोला,छभ10,किल-दिल,खाप,गुड्डू रंगीला, दंगल आदि के अलावा टीवी सीरियल में ना आना इस देश लाडो आदि ने हरियाणवी भाषा के प्रचार में अहम् भूमिका निभाई है।अतः हरियाणवी के भाषा बनने की प्रक्रिया में पॉपुलर हरियाणवी गीतों की भूमिका को भी नज़र अंदाज नहीं किया जा सकता और जो समाज की जुबान को बदल और अभिव्यक्त दोनों कर रहे है।

संदर्भ -

1. डॉ. रेखा शर्मा,हरियाणा के लोकगीतों में भक्ति-भावना,हरियाणा साहित्य अकादमी,पंचकुला,प्रथम संस्करण-2005,उद्धृत,डॉ. पूर्णचंद शर्मा, हरियाणवी और उसकी बोलियों का अध्ययन(1998),पृ-26

2. रामनिवास मानव,हिंदी की सहभाषा : हरियाणवी, साहित्य अकादमी,दिल्ली,प्रथम संस्करण-2012,पृ-18

3. रामनिवास मानव,हिंदी की सहभाषा : हरियाणवी, साहित्य अकादमी,दिल्ली,प्रथम संस्करण-2012,पृ-16

4. डॉ. रेखा शर्मा,हरियाणा के लोकगीतों में भक्ति-भावना,हरियाणा साहित्य अकादमी,पंचकुला,प्रथम संस्करण-2005,उद्धृत,डॉ. पूर्णचंद शर्मा, हरियाणवी और उसकी बोलियों का अध्ययन(1998),पृ-25-26

5. मीडिया नगर-03,नेटवर्क संस्कृति,2007, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 110002

6. रामनिवास मानव,हिंदी की सहभाषा : हरियाणवी, साहित्य अकादमी,दिल्ली,प्रथम संस्करण-2012,पृ-22

सम्पर्क : 9215181490

●●

हरियाणवी बोली में ग्लैमर का तड़का

-सहीराम

देश की राजधानी दिल्ली से प्रकाशित होनेवाले तथाकथित राष्ट्रीय अखबारों के स्थानीय परिशिष्ट इन दिनों उन नए छात्रों के उत्साह एवं उमंग के साथ ही साथ उनके फैशन, टशन और मस्ती को भी बहुत ही दिलचस्प तथा ग्लैमरस अंदाज में पेश करने में लगे रहे हैं, जिनका दिल्ली विश्वविद्यालय में नया-नया दाखिला हुआ है। इन अखबारों ने इस चिंता को स्वर देना कतई उचित नहीं समझा कि हजारों छात्र बोर्ड की परीक्षाओं में बेहतरीन अंक पाने के बावजूद इस विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने और वहां अपनी आगे की शिक्षा को जारी रखने से करने से वंचित रह गए। ऐसे छात्रों में 90 फीसद तक अंक लानेवाले छात्र भी शामिल हैं, जिनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वे प्रतिभाशाली नहीं हैं। अखबारों और एक हद तक खबरिया चैनलों की भी दिलचस्पी तो इसी में ज्यादा रही कि प्रवेश पानेवाले छात्रों में नए फैशन ट्रेंड क्या हैं! हमारे शासकों की नीतियों ने जो उपभोक्तावाद तथा बाजारवाद पैदा किया है,उन्होंने इन छात्रों की तमाम रूचियों को बस इन्हीं बातों तक समेट कर रख दिया गया है।

इसलिए आश्चर्य नहीं कि पिछले कुछ वर्षों से दिल्ली विश्वविद्यालय खासतौर से इन दिनों में आकर जैसे पेज थ्री का ही हिस्सा हो जाता है। फैशन, ग्लैमर और पार्टियों की दुनिया में जैसे एक और आयाम जुड़ जाता है। नए बच्चे कौन से बाजारों से खरीददारी कर रहे हैं, कैसे नए इलेक्ट्रोनिक गजेट्स का इस्तेमाल कर रहे हैं, कूल या फिर हॉट दिखने के लिए वे किस तरह के कपड़े पहन रहे हैं, खासकर लड़कियां किस तरह के बैग इस्तेमाल कर रही है, किस तरह के कपड़े पहन रही हैं,यहां तक कि किस तरह के स्लीपर पहन रही हैं, इन बच्चों की मस्ती के अड्डे कौन-कौन से हैं, खाने-पीने के ठिकाने कौन से हैं, कौन सा पॉप सिंगर या रेडियो जॉकी कौन से कॉलेज में अपनी परफोर्मेंस देने जा रहा है, बस यही उनकी दिलचस्पी के में केंद्र होते हैं जबकि हजारों छात्र एक इसी वजह से परेशान रहते हैं कि विश्वविद्यालय में समुचित मात्रा में छात्रावास न होने के कारण और उन्हें अपने रहने-खाने और विश्वविद्यालय आने-जाने पर कहीं ज्यादा पैसा खर्च करना पड़ता है।

बहरहाल, यहां इन समस्याओं पर विचार करना हमारी इस टिप्पणी का भी विषय नहीं हैं। असल में जिस चीज ने हमारा ध्यान खींचा है, वह इन दिनों में दिल्ली विश्वविद्यालय को पेज थ्री में तब्दील कर देनेवाले इन्हीं परिशिष्टों में से किसी एक परिशिष्ट में छपी एक छोटी सी रिपोर्ट थी, जिसमें यह बताया गया था कि हरियाणवीभाषी दिल्ली देहात और दिल्ली के आसपास के क्षेत्रों की रहनेवाली और दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने में कामयाब रही छात्राओं में यहां के अभिजातवर्गीय माहौल में भी गजब का आत्मविश्वास देखने में आ रहा है और अब वे आपस में बातचीत या दूसरों से घुलने-मिलने में पूरी ठसक के साथ अपनी बोली-भाषा अर्थात हरियाणवी बोली का इस्तेमाल कर रही हैं।

जाहिर है कि इन परिशिष्टों में इस बात के लिए तो उनकी तारीफ हो नहीं हो सकती थी कि वे कितनी प्रतिकूल स्थितियों से निकलकर बल्कि उनका मुकाबला करते हुए यहां तक पंहुची हैं। क्योंकि यह वह क्षेत्र है जहां पितृसत्तात्मक सोच मां के गर्भ से लेकर उनके शिक्षा ग्रहण करने तथा इसी क्रम में उनके जवान होने और इश्क-मोहब्बत करने तक कदम-कदम पर उनकी जान की दुश्मन बनी हुयी है। पर यहां इतना संतोष कर लेना भी काफी होगा कि दिल्ली विश्वविद्यालय के अभिजातवर्गीय माहौल में उनमें अपनी बोली-भाषा में बात करने के मामले में आए उनके आत्मविश्वास को रेखांकित किया गया।

और इसकी वजह है दत्तो! जी हां, ''तनु वैड्स मनु'' श्रंखला की दूसरी फिल्म की नायिका कुसुम सांगवान, जिसका चरित्र एकदम बिंदास है। जो स्पोर्ट्सपर्सन है और वह इस मामले में दबंग भी है कि लड़कियों का पीछा करनेवाले या छेड़छाड़ करनेवाले लड़कों को अच्छा सबक सिखा सकती है। फिल्म के उसी के डायलॉग का अगर इस्तेमाल किया जाए तो वह किसी को भी कबूतर दिखा सकती है! लेकिन साथ ही सीधी और भोली भी है। कुसुम सांगवान दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ते हुए भी ठेठ हरियाणवी है। वही अंदाज, वही ठसक, वही बोली-भाषा। इसी चरित्र की प्रेरणा से इन छात्राओं में वह आत्मविश्वास पैदा हुआ जिसके चलते वे अपनी बोली-भाषा में खुलकर बात करने लगी हैं और उसको लेकर उनमें कोई अहसासे कमतरी नजर नहीं आता।

असल में हरियाणवी बोली के प्रति बॉलीवुड में इन दिनों एक नया आकर्षण दिखाई देता है। यह एक नया ट्रेंड है। भाषा वैज्ञानिकों का मानना है कि हरियाणवी बोली, आज की हिंदी, जिसे खड़ी बोली भी कहा जाता है, के सबसे नजदीक है। पर यहां उसे परिभाषित करने का हमारा कोई इरादा नहीं है। हम यहां हरियाणवी बोली-भाषा उसी को मानकर चल रहे हैं जो हरियाणा के रोहतक

और आसपास के जिलों में बोली जाती है। और सच तो यह है कि वह उस पूरे हरियाणा में भी नहीं बोली जाती, जिसे भौगोलिक रूप से हरियाणा के रूप में चिन्हित किया जाता है।

खैर, अगर मुंबइया फिल्मों की हमारी जानकारी सही है तो इसकी शुरूआत बहुत पहले से मान सकते हैं जब सुभाष घई ने अपनी फिल्म ''सौदागर'' में बीरसिंह का एक ऐसा चरित्र रचा था जिसके बोलने का अंदाज कुछ-कुछ हरियाणवी था। बीरसिंह उर्फ दादा बीर की यह भूमिका महान अभिनेता दलीपकुमार ने अदा की थी। लेकिन वह सिलसिला उस फिल्म तक ही रहा। हाल के वर्षों में इसकी शुरूआत ''रंग दे बंसती'' फिल्म से हुयी मान सकते हैं जिसमें सुक्खी नाम का एक चरित्र है। यह थोड़ा कॉमिक किस्म का चरित्र था जिसमें उसके बोलने-बतियाने का लहजा और बेफिक्र अंदाज कुछ-कुछ हरियाणवी नजर आता है। उन्हीं दिनों एक और फिल्म आयी ''चक दे इंडिया'', जिसमें चौटाला नामक एक हॉकी खिलाड़ी लड़की का चरित्र है। फिर ''लकी ओए लकी'' आयी। इस फिल्म में एक हरियाणवी रागनी का इस्तेमाल किया गया था-भांग रगड़कर पिया करूं मैं कुंडी सोटे आला सूं। इस श्रृंखला की एक बहुचर्चित फिल्म रही ''मटरू की बिजली का मंडोला''।

उसके बाद तो एक के बाद एक कई फिल्म आई जिसमें हरियाणवी बोली-भाषा का जमकर इस्तेमाल हुआ है। उधर इसी दौर में टेलीविजन पर ''एफ आइ आर'' नामक एक सीरियल चला, जिसकी मुख्य चरित्र चंद्रमुखी चौटाला नामक एक दबंग पुलिस इंस्पेक्टर है, जो पूरी तरह नहीं तो हरियाणवी जैसी एक जुबान ही बोलती है। खैर, फिल्मों की ही बात करें तो, ऐसी ही एक फिल्म थी ''हाई वे'' जिसका नायक टिपिकल हरियाणवी तो नहीं बोलता, लेकिन दिल्ली के आसपास की गाजियाबादी वाली जैसे बोली जरूर बोलता है। फिर ''एन एच-10'' और ''डॉली की डोली'' जैसी और फिल्में भी आयी,जो व्यवसायिक रूप से भी काफी सफल रही। इसके बाद तो जैसे ऐसी फिल्मों की लाइन लग गयी ''बदलापुर'', ''मिस टनकपुर हाजिर हो'' ''गाजियाबाद'' वगैरह-वगैरह। इस श्रृंखला की सबसे नयी फिल्म है-''गुड्डू रंगीला''। बहरहाल, दत्तो के चरित्र में यह प्रवृत्ति अपने उत्कर्ष पर दिखाई देती है।

दत्तो का चरित्र कुछ-कुछ वैसा ही है जैसे ''गंगा-जमुना'' फिल्म में पहली बार भोजपुरी बोली का इस्तेमाल हुआ। इससे पहले मुंबइया फिल्मों में भोजपुरी बोली का इस्तेमाल नौकर-चाकर किस्म के चरित्र किया करते थे। हरियाणवी बोली का इस्तेमाल भी इससे पहले मुख्यधारा की मुंबइया फिल्मों में कुछ ऐसे ही हुआ कि कभी किसी गुंडे किस्म चरित्र ने इसका इस्तेमाल करते हुए एक-दो डायलॉग बोल दिए या फिर किसी पुलिसवाले ने। लेकिन अब यह बाकायदा हीरो-हीरोइन बोली-भाषा हो चुकी है।

अभी थोड़े दिन पहले ही एक और खबर आयी कि आमिर खान को एक ऐसे ट्यूटर की जरूरत है जो उन्हें हरियाणवी बोलना सिखा सके। असल में वे एक फिल्म में ऐसे हरियाणवी पहलवान की भूमिका निभाने जा रहे हैं,जिसकी कुश्ती लडनेवाली बेटी के जीवन पर यह फिल्म बन रही है। एक जमाने में मुंबइया फिल्मों में पंजाबी और उसके लहजे का काफी इस्तेमाल होता था। उसके बाद भोजपुरी या पुरबिया बोली का इस्तेमाल काफी होने लगा। इधर खांटी मुंबईया जुबान का इस्तेमाल भी काफी बढ़ा है-मुन्नाभाई वगैरह में। लेकिन हरियाणवी बोली-भाषा का इस्तेमाल मुंबइया फिल्मों में अचानक काफी बढ़ गया है। यह एक नया ट्रेंड है। बहरहाल, जो बोली-भाषा कभी दिल्ली में कंडक्टरों और पुलिसवालों की बोली-भाषा होती थी और जिसे शायद ही कभी पसंद किया गया हो, अचानक वह बोली-भाषा इतनी अपनी सी क्यों हो गयी? कल जिसे इतनी लट्ठमार जुबान माना जाता था कि अगर शुद्ध हिंदी बोलते हुए उसका लहजा भी कहीं झलक जाता था तो उज्जड और मूर्ख समझ लिए जाने का डर लगा रहता था, आज उसे बोलते हुए दिल्ली विश्वविद्यालय की लड़कियों में कोई अहसासे कमतरी क्यों नहीं झलकती?

इसकी एक वजह तो निश्चित रूप से बाजार के विस्तार की संभावनाओं से जुड़ी हुयी है। जिसे बॉलीवुड कहा जाता है उस हिंदी-ऊर्दू सिनेमा को अपने व्यवसाय के लिए नए क्षेत्रों की तलाश है। बहरहाल, इन सवालों के कुछ अन्य आसान जवाब इस तरह हो सकते हैं कि दिल्ली जैसे महानगर में, जिसके चारों तरफ कमोबेश हरियाणवी ही बोली जाती है वहां इसे कंडक्टरों और पुलिसवालों की बोली-भाषा के रूप में ही जाना गया जो बड़ी ही आक्रामक किस्म होती है। कुछ-कुछ उतनी ही बदमजगीवाली जिसके लिए यहां के पंजाबीभाषी टैक्सी और ऑटोवाले बदनाम थे। अब एक पुलिसवाले की जुबान में आक्रामकता का पुट तो स्वाभाविक हो सकता है लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि दिल्ली की बसों के कंडक्टरों-ड्राइवरों की बोली-भाषा में भी लोगों को वैसी ही आक्रामकता दिखाई देती थी। इसकी वजह शायद यह रही हो कि नौकरी सिर्फ एक मात्र उनकी रोजी-रोटी का जरिया नहीं थी, बल्कि ये वे लोग थे जिनकी गांवों में जमीनें भी थी। उनका एक आर्थिक आधार और था और इसी का घमंड उन्हें बसों में चलनेवाले शहरी मध्यवर्ग को नीची नजर से देखने के लिए प्रेरित करता था। उनकी बोली-भाषा में यह आक्रामकता इसी ठसक से आती थी। इसी से जुड़ी एक दूसरी वजह इससे ठीक उल्टी भी हो सकती है और वह है उनका अहसासे कमतरी जो शहर के पढ़े-लिखे मध्यवगीय लोगों को बेइज्जत करने की उनकी कुंठा के रूप में सामने आता था।

यह थोड़े आश्चर्य की बात है कि दिल्ली में शहर के फैलने और बढने की प्रक्रिया में पंजाबी के अलावा जो दो बोलियां सबसे ज्यादा सुनने में आती थी, वह थी-पुरबिया और हरियाणवी। और दोनों का चरित्र बिल्कुल अलग था। पुरबिया बोली जहां दबे-कुचलों, मजदूरों और पीड़ितों की बोली के रूप में सामने आती थी, वही

हरियाणवी बोली दबंगों की बोली के रूप में सामने आती थी। इसलिए मोटे तौर पर यह दमन करनेवालों की भाषा लगती थी। उसमें गाली-गलौच थी, स्तरहीनता और छिछलापन था। फिर वह उन मुट्ठी भर शासकों की भाषा-बोली के रूप में भी पहचानी गयी जो थोड़े बहुत राष्ट्रीय स्तर पर उभरे तो सही, लेकिन जो सत्ता के भूखे शासकों के रूप में ही लोगों के सामने आए। उस दौर में भी जब राजनीति में थोड़े-बहुत सिद्धांत बचे हुए थे, हरियाणा से राष्ट्रीय स्तर पर उभरकर आए इन नेताओं के ना कोई सिद्धांत थे, ना कोई मूल्य थे, ना ही कोई आदर्श थे। जैसा उनका राजनीतिक आचरण लोगों में जुगुप्सा पैदा करता था, उसी के अनुरूप उनकी बोली- भाषा से भी लोगों की दूरी बनी। वह भाषा दूसरे को अपने से जोड़ती नहीं थी, बल्कि अलगाती थी। दूर करती थी।

इन सबके विपरीत दत्तो या उस जैसे ही दूसरे फिल्मी चरित्रों की भाषा पीड़ितों से जुड़ती भी है और उन्हें जोड़ती भी है। आश्चर्य नहीं कि ऊपर हमने जिन फिल्मों का जिक्र किया उनमें खाप पंचायतों और उनसे पीड़ितों का संदर्भ जरूर आता है। कभी लिखने का मौका आया तो इस विषय पर अवश्य ही लिखने विनम्र कोशिश की जाएगी। बहरहाल, दत्तो और उन जैसे चरित्रों की भाषा हुक्म की भाषा नहीं है, दमन की भाषा नहीं है। साझा सुख-दुख की, साझा दर्द की भाषा है। वह उस सामान्य जन की भाषा है जिसके जीवन की मुश्किलें, कठिनाइयां, उलझनें, विडंबनाएं, अंतर्विरोध इस मुल्क के आर-पार एक जैसे हैं। यह उन लड़कियों की भाषा है जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था का अभिशाप ढ़ो रही हैं और उसके खिलाफ लड़ रही हैं, यह उन खिलाड़ियों की भाषा है, जो कड़ी मेहनत से अपना स्थान बनाते हैं, यह समाज के उस तलछट की भाषा है, जो भौगोलिक रूप से चाहे हरियाणा से जुड़ा हो, लेकिन जिसका चरित्र सर्वव्यापी है।

बहरहाल जो भी हो, बोली-भाषा संबंधी सवालों के जवाब इतने आसान नहीं होते हैं और भाषाविज्ञानियों तथा समाजविज्ञानियों को गहराइयों में उतरने का आमंत्रण देते हैं।

सम्पर्क : 09990764810

शब्दों की टकसाल

आदि मानव का इतिहास बताता है कि वह जंगलों में रहता था। पेड़ों की छाल से बदन ढकता था। कच्चा-पक्का मांस व कंद मूल खाता था। फिर धीरे-धीरे उसने झोपड़े बनाना सीखा। खेती करना सीखा। पशु पालना सीखा। इन सब के साथ वह शब्द रचना का काम भी करता जा रहा था। हर नई वस्तु की खोज के साथ वह उसका नामकरण करता जा रहा था। वह अपनी आवश्यकताओं एवं अभिव्यक्तियों की वाणी देने के साथ-साथ आने वाले समय के लिए एक शानदार शब्दकोश की रचना भी करता जा रहा था। यह सतत् प्रक्रिया आज भी जारी है।

मानव का सबसे प्राचीन व्यवसाय कृषि तथा पशु पालन है। अतः सबसे पहले इनसे संबधित शब्दों की रचना हुई। उदाहरण के लिए छाज व छलनी ये दो शब्द ऐसे हैं जो अनाज साफ करने के साधनों के नाम हैं। छाज से अनाज फटका जाता है और छलनी से बारीक कण अलग किए जाते हैं। छलनी में छेद होते हैं। देखिए, किसी के अवगुण को प्रकट करने का क्या शानदार प्रयोग है-छाज बोले तो बोले। वह छलनी क्या बोले, जिसमें सत्तर छेक। यह प्रयोग हमारे उन लोगों की देन है, जिसमें समाज का एक विशिष्ट तबका अनपढ़ है और मूर्ख कहकर हाशिये पर डालने का लगातार प्रयास करता चला आ रहा है। छाज व छलनी के प्रयोग से एक शानदार मुहावरा वही गढ़ सकते हैं जो इनका प्रयोग करते आए हैं। 'अधजल गगरी छलकत जाए' यह वह महिला ही जान सकती है, जो सिर पर गगरी रखके पनघट से पानी लेकर आती है। उसका यह ज्ञान भाषा को समृद्ध बनाता है। थोथा चना ज्यादा शोर करता है। यह बात वही जान सकता है, जो चने को अपने हाथों से बीनता फटकता तथा पिछोड़ता है। जिसके लिए किसी यूनिवर्सिटी की आवश्यकता नहीं होती। भाषा के विकास एवं शब्दों के निर्माण में सरल स्वाभाविक समझ काम करती है। शब्दों का निर्माण गांव के गली कूचों में, चौक चौराहों में, चौपालों में, खेतों-खलिहानों में होता है। किसी एक एकेडमी के वातानुकूलित कमरे कभी भी शब्द निर्माण के कारखाने नहीं हो सकते। वह तो बने-बनाए स्वरूप की चीरफाड़ है। उस पर शोध-पत्र लिख सकते हैं।

हरियाणा में सफर के साथ लेकर जाने वाले सामान को लंगड़े कह देते हैं। कई बार मजाक में छोटे बच्चों को भी लंगड़े कह दिया जाता है। अंग्रेजी में यह लग्गेज है। शायद हरियाणा से यूरोप तक जाते-जाते ड़ का ज हो गया होगा। अंग्रेजी के पाथ को पथ भी पढ़ा जा सकता है जोकि हिन्दी हरियाणवी का एक बहुत सामान्य शब्द है। विशिष्ट अंदाज से देश या विदेश के किसी भी कोने में अलग ही पहचाना जाता है। सिक्किम के ठंडे क्षेत्र में सेना के लिए मैस से दूर खाना भेजने के लिए टिफिन का प्रयोग किया जाता है। डिब्बे रखने के लिए एक बाल्टीनुमा खाली पाईप जैसा बर्तन होता है, जिसका कोई विशिष्ट नाम नहीं है एक हरियाणा के सैनिक ने उसका नाम रखा-तुरलम। अब यह नाम अधिकारिक तौर पर प्रयोग किया जाने लगा है।

पिछले कुछ वर्षों में भजनों व सांगों की परम्परा में कमी आई है, जो यकीनन हरियाणवी के लिए शुभ संकेत नहीं है। एक बात जो शुभ कही जा सकती है वह है हिन्दी फिल्मों में हरियाणवी भाषा का प्रयोग। मटरू की बिजली का मंडोला, बिग बॉस तथा तनु वेड्स मनु में हरियाणवी बोली का बहुत प्रभावशाली प्रयोग किया गया है। सामान्य समझ रखने वाले सामान्य लोग आज भी शब्द गढ़ रहे हैं। आवश्यकता उनको समझने एवं प्रोत्साहन देने की है।

कमलेश चौधरी, बाबैन, कुरुक्षेत्र

दिल्ली का छाया-युद्ध

विकास नारायणराय

गत दो वर्षों में भारतीय राजनीति में जिन नेताओं को लोगों ने ध्यान से सुना है उनमें नरेंद्र मोदी और अरविन्द केजरीवाल का नाम आसानी से ऊपर रखा जा सकता है। उनके श्रोता-समूह अभी भी उनके साथ हैं पर उनकी राजनीतिक भाषा क्रमशः जुमलेबाजी और विज्ञापनबाजी में फंस कर रह गयी है। मोदी सरकार की जुमलेबाजी पर बहुत कुछ कहा गया है और केजरीवाल सरकार की विज्ञापनबाजी को अदालत तक में चुनौती दी गयी है। जाहिरा तौर पर, उनकी राजनीतिक भाषा का उनके वास्तविक कार्यकलापों से बढ़ता फासला इसके पीछे है। इस परिघटना को समझने में दिल्ली की राजनीति में दोनों सरकारों के बीच चल रहा छाया-युद्ध एक बानगी के तौर पर देखा जाना चाहिए।

स्त्री सुरक्षा को लेकर अपने अश्वमेधी तेवरों के अनुरूप आप सरकार का रवैया विजयदशमी के दिन रावण-वध वाला रहा है। उसकी इसी एक-आयामी कार्य-प्रणाली की गूंज, इस मुद्दे पर आयोजित दिल्ली विधानसभा के तीन अगस्त के विशेष सत्र में भी रही, कि समस्या छू-मंतर करने के लिए बस दिल्ली पुलिस की फौज उसके हवाले करने की देर है। यह दिल्ली पुलिस फिलहाल ऑपरेशन शिष्टाचार के नाम पर बसों इत्यादि में मनचलों को लात-थप्पड़ से नवाजने में महारत दिखा रही है। यूं यदि विज्ञापनों के बूते संभव रहा होता तो न केवल बलात्कार की राजधानी कहलाने वाली इस महानगरी की स्त्रियां पूरी तरह सुरक्षित हो गयी होतीं बल्कि दिल्ली से अब तक भ्रष्टाचार का भी नामो-निशां मिट चुका होता। इस सन्दर्भ में केजरीवाल सरकार और पुलिस कमिश्नर बस्सी का मीडिया धरातल पर चल रहा प्रतिस्पर्धात्मक अभियान जमीनी सच्चाई से कोसों दूर है। उनके तरकश से राजधानी के राजनीतिक छाया-युद्ध में चलाये जा रहे तीरों का सम्बन्ध उनके परस्पर अविश्वास से रहा है न कि दिल्लीवासियों में विश्वास भरने से।

आजकल दिल्ली पुलिस तिपहिया वाहनों से 'उगाही' करने से खास परहेज कर रही है; उसके जवानों में 'आप' के स्टिंग ऑपरेशन के निशाने पर आने का डर घुस गया है। बदले में उन्हें भी, ट्रैफिक नियम के जरा से उल्लंघन के भी दोषी आप समर्थक इन तिपहिया चालकों पर रत्ती भर रियायत नहीं करने की अघोषित नीति पर आमादा देखा जा सकता है। नहीं, यह अरविन्द केजरीवाल के दिल्ली पुलिस को ठुल्ला कहने से नहीं शुरू हुआ। न ही दिल्ली सरकार का दिल्ली पुलिस के सीधे संचालन पर आमादा दिखना इतनी एकतरफा कवायद है। दिल्ली में पुलिस ने, दरअसल, 'आप' के चमत्कारिक प्रादुर्भाव के शुरुआती दौर से ही स्वयं को सत्ता राजनीति के टकराव में शामिल पाया।

दिल्ली सरकार के पांच सौ छब्बीस करोड़ के असंतुलित विज्ञापन बजट की आक्रामक गहमागहमी में दिल्ली पुलिस के अपने भ्रष्टाचार और स्त्री सुरक्षा संबंधी विज्ञापनों को नहीं भूलना चाहिए। मुख्यतः रेडियो और प्रिंट मीडिया तक सीमित इन विज्ञापनों में जो कमाल की बेबाकी झलकती है वह विधानसभा चुनाव पूर्व से चली आ रही 'आप' से होड़ का नतीजा लगती है। यहाँ तक कि पुलिस के इन विज्ञापनों में आम जनता से उन कमाऊ पुलिसिया हथकंडों के विरुद्ध रिपोर्ट करने की भी खुली अपील है जिनसे दिल्लीवासियों का रोजाना वास्ता पड़ता रहा है। मसलन, निर्माण कार्य में पहली ईंट रखते ही, सड़क पर वाहन चालक की अचानक धर-पकड़ से, लाइसेंस या सत्यापन की प्रक्रिया में, आपराधिक शिकायतों के बंदर-बांटी निपटान में, रेहड़ी-पटरी वालों व सड़कों पर अतिक्रमण के दोहन से, मादक पदार्थों या वैश्यावृत्ति जैसे अवैध धंधों को प्रश्रय देकर, इत्यादि। हालाँकि दिल्लीवासी यह समझने में असमर्थ हैं कि कि जब भ्रष्टाचार के ये आयाम खुले रूप से विज्ञापित किया जा सकते हैं तो इनकी रोकथाम को लेकर पुलिस की अपनी जमीनी सक्रियता नदारद क्यों!

तो भी दिल्ली पुलिस ने कमिश्नर बस्सी के कार्यकाल में गत दो वर्षों से मुकदमे दर्ज करने में निश्चित रूप से स्वागतयोग्य तत्परता दिखाई है, हालाँकि अभी भी उनके थानों-चौकियों में लोगों को इस या उस बहाने से टरकाये जाने की शिकायतें समाप्त नहीं हुयी हैं। इस बीच उन्होंने अपने मानव संसाधन को लिंग-संवेदी बनाने में व्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रमों की, बेशक अधूरे व जल्दबाजी भरे पाठ्यक्रमों के सहारे, जरूरी पहल भी की है। जाहिर है, इसमें उन्हें केन्द्रीय गृह मंत्रालय से अधिक अड़ंगेबाजी नहीं मिली होगी। विशेषकर, पुलिस में दर्ज हुए गंभीर अपराधों के आंकड़ों को लेकर सरकारें बहुत संवेदनशील होती हैं और तमाम पुलिस विभागों में येन-केन-प्रकारेण आंकड़ों में हेरा-फेरी कर अपराध संख्या कम दिखाने पर जोर रहता है। बस्सी ने सही पेशेवर नीति अपनाने की हिम्मत दिखायी कि वस्तुस्थिति को यथासंभव प्रतिबिंबित करना अपराध संचालन की दिशा में पहला ठोस कदम होगा। बेशक यह अपने आप में पर्याप्त न भी हो पर केजरीवाल के नीतिकारों ने उल्टा इसे अपराध के बढ़ते ग्राफ के रूप में देखने पर जोर दिया है न कि अपराधों से दो-चार करने की अपरिहार्य पहल के रूप में।

इसके बरक्स यदि दिल्ली सरकार के अपने आत्ममुग्ध विज्ञापनों को सुनिए तो भ्रष्टाचार और स्त्री सुरक्षा जैसे मुद्दे महज एक-आयामी शैतान सरीखे बिम्ब नजर आयेंगे। और लगेगा कि इनसे छुटकारा दिलाने के उपाय भी एक-आयामी ही होंगे। क्या

आश्चर्य कि इन मोर्चों पर उनकी सफलता के दावे भी एक-आयामी ही रहे हैं - उन्होंने एसीबी (एंटी करप्शन ब्यूरो) की मार्फत पैंतीस भ्रष्टाचारी, सोचिये हजारों में से एक-दो नहीं पूरे पैंतीस, पकड़ लिए और तमाम बसों में सुरक्षा मार्शल तैनात कर दिए। बस अब किसी तरह उन्हें दिल्ली पुलिस और मिल जाय; बस किसी तरह महिला आयोग के अध्यक्ष पद पर उनका अपना विश्वासपात्र आसीन हो! ये हैं उनके उपाय! एक जमाने में वे इसी तर्ज पर लोकपाल को हर प्रशासनिक मर्ज की दवा बनाकर बेच चुके हैं।

इस एक-आयामी नजरिये का ही असर है कि केजरीवाल सरकार के नए दौर में दिल्ली पुलिस का नियंत्रण केंद्र सरकार से लेकर दिल्ली सरकार को सौंपने की आप की राजनीतिक मांग विडंबनात्मक सीमाओं में प्रवेश कर चुकी है। पुलिस कमिश्नर बस्सी के अनुसार दिल्ली पुलिस का नियंत्रण दिल्ली सरकार के हाथ में जाना 'दुर्भाग्यपूर्ण' होगा जबकि केजरीवाल के अनुसार पुलिस के 'ठुल्लों' के बेलगाम रहने से ही भ्रष्टाचार और स्त्री सुरक्षा के मोर्चों पर उनकी प्रगति नहीं पा रही। एक ओर पुलिस मशीनरी है जो स्वयं भ्रष्ट होने के बावजूद, केंद्र की शह पर, आप के मंत्रियों व विधायकों के आपराधिक कृत्यों पर शिद्दत से कानूनी कार्यवाही करने में आगे से आगे नजर आ रही है। दूसरी ओर, भ्रष्टाचार के विरुद्ध आन्दोलन से राजनीतिक परिदृश्य पर उभरी 'आप' की अपनी आतंरिक लोकपाल की व्यवस्था भी पाटी की आपसी कलह में चरमरा गयी है। यहाँ तक कि स्त्री सुरक्षा जैसे निरपेक्ष मुद्दे पर भी नहीं छिप रहा कि दिल्ली पुलिस और दिल्ली सरकार के बीच सहयोग की कोई गुंजाइश हो।

सहज ही आभास होता है कि दिल्ली विधानसभा चुनाव में बुरी तरह पिटी भाजपा और अभूतपूर्व बहुमत पाने वाली आप के बीच एक छाया-युद्ध चल रहा है, जिसमें भाजपा ने दिल्ली के उपराज्यपाल नजीब जंग को आगे किया हुआ है जबकि आप ने दिल्ली पुलिस को निशाने पर ले रखा है। दोनों पक्ष तनातनी के इन दो सक्रिय मोर्चों भ्रष्टाचार और स्त्री सुरक्षा - से एक दूसरे पर शक्ति-भर वार करते जा रहे हैं और विडंबना देखिये कि इन मोर्चों पर दिल्ली शासन की सम्बंधित निगरानी एजेंसियां एसीबी और महिला आयोग अविश्वास और जोड़-तोड़ का मंच बना दी गयी हैं। दिल्ली पुलिस से इस सघन रस्साकशी में केजरीवाल सरकार जहाँ राजनीतिक रूप से बेहद मुखर रही है, पुलिस कमिश्नर बस्सी के वार सामरिक रूप से अधिक प्रखर पड़ते लगते हैं। केंद्र की भाजपा सरकार के लिए इससे अधिक सुविधा की स्थिति नहीं हो सकती। कह सकते हैं कि फिलहाल छाया-युद्ध दोनों पक्षों को रास आ रहा है। जहाँ तक आप सरकार का सवाल है उसने दिल्ली पुलिस पर नियंत्रण के पुराने चले आ रहे दावे की आड़ में भ्रष्टाचार और स्त्री सुरक्षा, जो आप के दो मुख्य मुद्दों के रूप में शुरू से स्थापित रहे हैं, को सफलतापूर्वक राजनीतिक फोकस में बनाये रखा है। इसकी बदौलत उन्हें लगातार कानून व्यवस्था बिगड़ने के नाम पर केंद्र सरकार को जवाबदेही के कठघरे में रखने का अवसर भी मिल रहा है। उधर मोदी सरकार आप के विधायकों और मंत्रियों को दिल्ली पुलिस की मार्फत भ्रष्टाचार में लिप्त ही नहीं, स्त्री-विरोधी दिखाने पर भी आमादा है। साथ ही केन्द्रीय गृह मंत्रालय के इशारे पर आप सरकार की तमाम प्रशासनिक नियुक्तियों पर उपराज्यपाल नजीब जंग के वीटो से केजरीवाल और उनकी टीम को अक्षम ठहराने का माहौल भी बनाया जा रहा है। जुमलेबाजी और विज्ञापनबाजी बनती जा रही राजनीतिक भाषा में फासिस्टबाजी के लक्षण भी आ रहे हैं - भाजपायी मोहरे जंग ने इस दौरान केजरी को लिखा, "दिल्ली में सरकार का मतलब उपराज्यपाल होता है।"

दरअसल, आज दिल्ली की जमीनी सच्चाई यह है कि छाया-युद्ध के चलते स्त्री सुरक्षा और भ्रष्टाचार जैसे महत्वपूर्ण मुद्दे प्रशासनिक रूप से दरकिनार पड़े हैं और जवाबदेह कोई नहीं। उल्टे, इस परिदृश्य को घनीभूत करने के पीछे मुद्दों की उतनी नहीं जितनी इन्हें संचालित करने वाले व्यक्तियों की छाया दिखती है। विज्ञापनों में मुख्यमंत्री अरविन्द केजरीवाल ही नहीं, पुलिस कमिश्नर बस्सी भी दिल्ली की जनता के प्रति सजगता का सन्देश देते रहना चाहते हैं। अन्यथा आरोप-प्रत्यरोप की वर्तमान कवायद में अबूझ क्या है? कौन नहीं जानता कि दिल्ली की आप सरकार नौसिखियों की सरकार है। न ही दिल्ली पुलिस के जाने-पहचाने भ्रष्ट हथकंडे किसी को आश्चर्य में डालते हैं। दिल्ली सरकार और केंद्र सरकार के बीच दिल्ली पुलिस के नियंत्रण की मौजूदा रस्साकशी में उपराज्यपाल का इस्तेमाल भी राजनीतिक स्वार्थों के पुराने समय से चले आ रहे दांव-पेंच की बानगी ही तो है। दिल्ली की जनता की दिलचस्पी ऐसे उदाहरणों में नहीं, अपनी रोजमर्रा की जरूरतों - पानी, बिजली, शिक्षा, स्वास्थ्य, स्त्री सुरक्षा की भरपाई और सरकारी तंत्र की लूट-खसोट से छुटकारे में है। इन मसलों पर वांछित पारदर्शिता, सामाजिक सशक्तीकरण और तकनीक से संचालित एक भी सफल प्रशासनिक मॉडल सामने नहीं आ सका है, जिसकी भरपायी करने में जुमलेबाजी, विज्ञापनबाजी और फासिस्टबाजी की राजनीतिक भाषा सामने आ रही है।

चंद माह पहले हुए विधानसभा चुनाव में दिल्ली की जनता ने 'आप' को सत्तर में से सड़सठ सीटें देकर इतिहास रचा था। विरोधियों का कहना है कि इसने केजरीवाल की निरंकुशता को बेलगाम कर दिया और पार्टी के अन्दर लगभग व्यक्ति पूजा जैसा माहौल बना दिया। केजरीवाल के चंद महीने के शासन में ही 'हमने इतिहास बनाया' जैसी विज्ञापनबाजी का दंभ इसी माहौल की उपज है। उनकी सरकार ने अभूतपूर्व रूप से शिक्षा का बजट दोगुना और स्वास्थ्य का डेढ़ गुणा जरूर किया है; उन्होंने बजट-पूर्व लोगों के बीच जाकर व्यापक विमर्श के लोकतान्त्रिक आयोजनों जैसी तत्परता भी दिखाई है; निश्चित रूप से वे भाजपा और कांग्रेस से नीयत के धरातल पर भी अलग नजर आते हैं। दिल्ली के विशाल अंडरक्लास में उनका समर्थन अभी काफी समय तक निर्बाध रहने जा रहा है। पर, देर-सवेर उन्हें विज्ञापनी भाषा की आभासी दुनिया से बाहर आकर इस प्रश्न का सामना करना होगा कि क्या वे वास्तविक जन-युद्ध में उतरेंगे या बस राजनीतिक छाया-युद्ध ही लड़ते रहेंगे? जुमलेबाजी की भाषा का दिल्ली में ही जन-नकार उनके सामने है।

-पूर्व आईपीएस 0981860334

मातृभाषा और विज्ञान शिक्षण पर मेरा अनुभव

-वरूण कुमार

मैं लुधियाना में भौतिक विज्ञान और गणित का शिक्षक हूं और अपने विद्यार्थी जीवन से लेकर अध्यापन तक के कुछ अनुभव यहां बांटना चाहता हूं।

मातृभाषा और विज्ञान शिक्षण के संबंध को लेकर मेरे अनुभव दो तरह के हैं। एक मेरे व्यक्ति विद्यार्थी जीवन के अनुभव हैं। और दूसरे मेरे अध्यापन के वर्षों के अनुभव हैं। मेरे माता-पिता उत्तर प्रदेश से संबंध रखते हैं। सो मेरे घर में मुझे बचपन से हिन्दी भाषा ही मातृभाषा के रूप में मिली, परन्तु मेरी शिक्षा बचपन से ही पंजाब में हुई और पंजाबी माध्यम के स्कूल में पढ़ा। सो पंजाबी भाषा भी हिन्दी की ही तरह मेरी मातृभाषा है। मैंने मैट्रिक तक की शिक्षा हिन्दी व पंजाबी माध्यम से प्राप्त की, सो विज्ञान और गणित भी हिन्दी भाषा के माध्यम से ही सीखा। दसवीं कक्षा तक अंग्रेजी को सिर्फ एक भाषा के रूप में ही पढ़ा। जिस स्कूल में मैंने पढ़ाई की, वहां बच्चों को आगे की पढ़ाई के विषय निर्धारित करने के लिए कोई ऐसी सहायता या प्रशिक्षण प्राप्त नहीं था, जिससे विद्यार्थी यह फैसला कर पाएं कि वो आगे जाकर क्या विषय लेकर पढ़ें और किसी विद्यार्थी को यह भी एहसास न हो पाता था कि उनको कौन से विषयों में दिलचस्पी है और कौन से विषय लेकर दसवीं के बाद पढ़ाई की जाए। मोटी-मोटी यही बात सबके मन में घर की हुई थी कि जो बहुत ज्यादा अंक ले पाएगा वो मेडीकल या नान-मेडीकल पढ़ेगा। उससे थोड़ा कम अंक वाले बच्चे कामर्स पढ़ेंगे और बहुत कम अंक हासिल करने वाले विद्यार्थी आर्ट्स के विषय पढ़ेंगे। इसके अतिरिक्त किसी विद्यार्थी को यह न मालूम था कि किस विषय में क्या होता है। दसवीं की सालाना बोर्ड परीक्षा में मेरे अच्छे अंक आ गए तो मुझे भी विज्ञान पढ़ने की सलाह दी जाने लगी मेरी भी गणित और विज्ञान में दिलचस्पी थी। सो मैंने 11वीं में नान मेडिकल में दाखिला ले लिया।

सब कुछ एकदम से बदल गया, क्योंकि अब मुझे अंग्रेजी माध्यम से ही पढ़ना अनिवार्य था। अणु और परमाणु की जगह अब Molecule और और Atom ने ले ली थी, त्रिभुज अब Triangle था, चर्तुभुज अब Quadrilateral था। सम-द्विबाहु त्रिभुज को Isosceles Triangle कहना पड़ा। मानो अभी तक की मेरी सारी पढ़ाई शून्य हो गई थी। सब कुछ शुरू से ही करना था। भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान और गणित की तीनों किताबें अब मुझे अंग्रेजी की ही किताबें लगने लगी थी। मेरे दसवीं में गणित में 100/100 अंक आए थे। पर अब मेरा गणित में भी मन न लगता था। पढ़ाई से कभी इतना परेशान न हुआ था। मैं पहले कभी भी। 11वीं का समय यही सोचते निकलने लगा कि पढ़ाई शुरू कहां से करें। छमाही की परीक्षा में फेल हो गया और किसी तरह विज्ञान के तथ्यों की अंग्रेजी में की गई रटाई से 11वीं में मुश्किल से पास होने लायक अंक ले पाया।

उस समय मेरी आयु और मेरी समझ इतनी नहीं थी कि मैं इस समस्या का असली कारण समझ पाता। मैं इस हीन भावना से बाहर नही आ पा रहा था कि विज्ञान मेरी समझ से बाहर का विषय क्यों बनता जा रहा था। मैं और मेरे लगभग सभी सहपाठी कभी अध्यापकों से कोई प्रश्न ही न पूछते थे, क्योंकि प्रश्न अंग्रेजी में पूछना ही अनिवार्य समझा जाता था। कोई मनाही न थी, पर फिर भी हिन्दीभाषी होने की जो हीन भावना विद्यार्थियों में थी, वह रोक लेती थी। अपना प्रश्न अंग्रेजी में पूछ पाना सबके बस की बात नहीं थी। धीरे-धीरे विज्ञान पढ़ने और समझने का आत्मविश्वास जाता रहा। मेरी हिन्दी और पंजाबी व्याकरण पर अच्छी पकड़ थी। मैंने धीरे-धीरे अंग्रेजी भी सीख ली और विज्ञान के अधिकतर प्रयोग होने वाले शब्दों और परिभाषाओं को अंग्रेजी में भी लिखना और पढ़ना सीखा और किसी तरह 12वीं की परीक्षा में औसत प्रदर्शन कर पाया।

वर्ष 2011 में मैंने अपनी कालेज की पढ़ाई पूरी की और पढ़ाना शुरू किया। मैं जब 11वीं के विद्यार्थियों को गणित और भौतिक विज्ञान पढ़ाता था, तो उनकी भी भाषा को लेकर जो समस्याएं थी, उनको समझ पाता था, क्योंकि अपने विद्यार्थी जीवन में यही सब मैं भी झेल चुका था।

मैं लुधियाना में प्रकाशित होने वाली एक पंजाबी पत्रिका 'ललकार' का नियमित पाठक हूं। यह पत्रिका समर्पित छात्रों और नौजवानों ने ही शुरू की थी और हर सामाजिक और राजनीतिक विषय पर इस पत्रिका द्वारा अच्छे लेख पढ़ने को मिल जाया करते हैं। इस पत्रिका द्वारा मातृभाषा के सवाल पर एक चर्चा चलाई गई और 2012 में लुधियाना के पास पक्खोवाल गांव में एक विचार गोष्ठी आयोजित की गईं। इस विचार गोष्ठी के मुख्य वक्ता के तौर पर पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला के भाषा वैज्ञानिक डा. जोगा

सिंह जी को बुलाया गया था। यह विचार गोष्ठी एक प्रगतिशील संस्था 'ज्ञान प्रसार समाज' ने आयोजित की थी और विषय था 'शिक्षा में मातृभाषा का महत्व'। मैं जागा सिंह जी का वक्तव्य सुनने के लिए पहुंचा था, क्योंकि यह विषय मेरे लिए बहुत ही दिलचस्प और महत्वपूर्ण था। यह तो मैं भी जानता था कि कोई न कोई बहुत बड़ी गलती जरूर है। हमारी शिक्षा पद्धति में परतु बीमारी की जड़ उस दिन समझ में आई, जब जोगा सिंह जी का तीन घंटे का वक्तव्य सुनते हुए मेरे विद्यार्थी जीवन से लेकर अध यापन तक की समस्याएं मेरी आंखों के आगे ताजा नजर आने लगी। स्कूल के बच्चों को मातृभाषा से दूर करते हुए हमारा शिक्षा प्रबंध जो कहर उन मासूम बच्चों पर ढाता है, यह बताते हुए जोगा सिंह जी की आंखें नम हो गई थी और यह सब सुनते हुए मुझे पहली बार ऐसा लगा कि मैं इस लड़ाई में अकेला नहीं हूं और भाषा को लेकर जो हीनभावना लेकर मैंने अपना विद्यार्थी जीवन बिताया। यह समस्या बहुत व्यापक है। मैं समझ गया था कि असली समस्या कहां है। उसके बाद जोगा सिंह जी के कई आलेख पढ़ने को मिले जो 'ललकार' पत्रिका में प्रकाशित हुए थे।

मैंने बच्चों को विज्ञान पढ़ाते हुए पंजाबी भाषा में ही पढ़ाना शुरू किया, क्योंकि ऐसा करते हुए मैं भी बच्चों को ज्यादा आसान शब्दों में अपनी बात कह पाता था और विद्यार्थी भी बिना किसी डर के अपने सवाल पूछ पाते थे। मैंने बच्चों को बताया कि विद्वान बनने का एकमात्र माध्यम अंग्रेजी नहीं है और किसी भाषा का महत्व इसी बात में है कि हम अपनी बात सरलता से किसी को समझा पाएं।

एक अर्ध सरकारी स्कूल में ट्यूशन के तौर पर मैं भौतिक विज्ञान पढ़ाने लगा। इस स्कूल में अधिकतर विद्यार्थी पंजाब के विभिन्न गांवों से आते हैं और छात्रावास का भी प्रबंध है। कई बच्चे पंजाबी माध्यम से ही दसवीं कक्षा तक पढ़े होते हैं और जो बच्चे अंग्रेजी माध्यम से भी पढ़े होते हैं। उनकी अंग्रेजी भी बहुत बुरी होती है। बच्चे बहुत गलतियां करते हैं। जोगा सिंह जी के आलेख पढ़ने के बाद से मैंने सचेतन होकर विज्ञान के महत्वपूर्ण सिद्धांत समझाने के लिए पंजाबी भाषा का ही प्रयोग किया है और जहां लगभग 50 प्रतिशत बच्चे भौतिक विज्ञान में या तो फेल होते थे और या फिर सिर्फ पास ही हो पाते थे, वहां पिछले तीन साल से एक भी बच्चा फेल नहीं हुआ है। 2014 में इसी स्कूल से मेरी दो विद्यार्थियों की पंजाब स्कूल शिक्षा बोर्ड में मैरिट भी आई और पंजाब में 21वां और 22वां स्थान हासिल किया है मेरे विद्यार्थियों ने। यह तो रही स्कूल के विद्यार्थियों की बात।

मैं कालेज के एमएससी (गणित) के विद्यार्थियों को 2011 से ही अपनी कोचिंग सैंटर में पढ़ा रहा हूं। टोपॉलाजी, फील्ड थ्योरी और कैलक्यूलस के आधारभूत सिद्धांत मैं अपने विद्यार्थियों को पंजाबी में ही समझाता हूं और 2012, 2013, 2014 के पंजाब विश्वविद्यालय के एमएससी के टॉपर मेरे ही विद्यार्थी रहे हैं। अब मेरे लिए विज्ञान पढ़ाना उतना ही सहज हो गया है जैसे मैं अपने दोस्तों से बात करता हूं।

पढ़ाना अब मुझे कभी भी नहीं थकाता और विद्यार्थियों से जो प्यार और आदर इन सालों में मुझे मिला है, उसका कारण यही सहजता और भाषा का खुलापन है। मेरे विद्यार्थी मुझसे किसी भी विषय पर बिना किसी हिचकिचाहट के बात कर पाते हैं। मेरे विद्यार्थी भावनात्मक रूप से भी मुझसे जुड़ जाते हैं। अब तो मैं छोटे-छोटे बच्चों में भी यह बात साफ-साफ देख पाता हूं कि भाषा का उनके आत्मविश्वास पर क्या असर हो रहा है। एक उदाहरण यहां देना चाहूंगा कि मेरे मौहल्ले में रहने वाले कई छोटे बच्चे मेरे दोस्त बन गए हैं। कुछ बच्चे अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में जाते हैं और कुछ बच्चे हिन्दी व पंजाबी माध्यम के स्कूलों में।

ऐसे ही एक एलकेजी में पढ़ने वाले एक बच्चे को मैंने एक दिन कविता सुनाने को कहा तो कविता कुछ इस तरह से थी :

टविंका-टविंका लिटा स्टार
हाओ आई वंडा वाट टू आ
अप्प अबा दा वरह सो आई
लाइका डाइमा इंदा स्काय।

अब सोचिए, क्या आपको लगता है कि इस बच्चे को इन पंक्तियों के अर्थ भी मालूम थे। इसी बच्चे को यही कविता दोबारा सुनानी तो तो शायद शब्दों का घालमेल कुछ और हो जाएगा।

आइए अब एक और बच्ची की बात बताता हूं। उसका नाम आलिया है जो हिन्दी माध्यम के स्कूल में है। वह कविता सुनाती है :

हाथी राजा बहुत बड़े
सूंड उठाकर कहां चले
मेरे घर भी आओ न
हलवा पूरी खाओ न
हाथी बैठा कुर्सी पर
कुर्सी बोली चटर-पटर

आलिया जब यह कविता सुनाती है तो उसका आत्मविश्वास देखने लायक होता है। आलिया ने कई बार हाथी को देखा है, वह जानती है कि हाथी बड़ा होता है। हाथी की सूंड होती है। आलिया ने अपने घर में हलवा-पूरी भी खाई है कई बार। सो आलिया के लिए यहां कुछ भी ऐसा नहीं, जो वह बिना समझे बोल रही हो। वह जानती है कि वह क्या गा रही है, क्योंकि आलिया से उसकी भाषा अभी छीनी नहीं गई है। आज महसूस कर पाता हूं कि अध यापक होते हुए मुझे कई जिंदगियां बदलने का अवसर मिलता रहेगा।

सम्पर्क 98767-56466

●●

विज्ञान : हिंदी बनाम अंग्रेज़ी

-दर्शन बवेजा
विज्ञान अध्यापक एवं विज्ञान संचारक यमुनानगर

विज्ञान को वरिष्ठ माध्यमिक स्तर पर अँग्रेज़ी भाषा में पढ़ाया जाना बहुत से विद्यार्थियों को विज्ञान विषय की आगामी कक्षाओं में प्रवेश लेने से रोकता है। ग्रामीण क्षेत्र के कार्यकाल के दौरान कक्षा दस में हिंदी माध्यम में विज्ञान पढ़ने वाले विद्यार्थी जो की ग्यारहवी कक्षा में विज्ञान को जारी रखने के लिए वचनबद्ध होते हैं, परिणाम घोषित होते ही अधिकांश बदल जाते हैं बदलने के कारण वो दो बताते है।

1.विज्ञान शिक्षा का माध्यम अँग्रेज़ी है जबकि मेने हिंदी माध्यम में दसवी उत्तीर्ण की है पता नहीं मुझ से हो भी पायेगी या नहीं,

2. विज्ञान की महंगी शिक्षा है यानी की विज्ञान में ट्यूशन पढ़नी पड़ती है। दोनों तर्को को सुन कर बच्चों को समझाया जाता है की अँग्रेज़ी माध्यम कोई जरूरी नहीं है आप हिन्दी माध्यम में भी पढ़ सकते हो राज्य शिक्षा बोर्ड दोनों माध्यम में आज्ञा देता है परन्तु फिर यह समस्या आती है की प्रवक्ता कक्षा में अंग्रेज़ी माध्यम में ही पढ़ाएंगे तो हमारी समझ में कैसे आयेगा।

किसी विषय का अँग्रेज़ी माध्यम में होना मेरे आधे से अधिक बच्चों को मन बदलने के लिए मजबूर कर रही है तो विज्ञान शिक्षा के माध्यम के रूप में अँग्रेज़ी की अनिवार्यता कितने बच्चों का भविष्य चौपट कर रही होगी - यह सहज कल्पना का विषय है या गहन अनुसन्धान का? हर साल मुझे इन दिक्कतों का सामना करना पड़ता है विज्ञान शिक्षक और विज्ञान संचारक होने के नाते मैं चाह कर भी कुछ नहीं कर सकता

लेकिन समस्या का समाधान जरूरी है विज्ञान को उच्च कक्षाओं में हिन्दी में क्यूँ नहीं पढ़ाया जाता है उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश व राजस्थान में विश्वविद्यालयी स्तर पर कोई चाहे तो स्नातक कक्षा की परीक्षा हिन्दी माध्यम में दे सकता है परन्तु उसको अंकन की समस्याओं से जूझना पढता है उसे कम अंक मिलते हैं हिन्दी माध्यम में पुस्तके और पठन सामग्री भी उपलब्ध नहीं है

उच्च विज्ञान शिक्षा को हिन्दी माध्यम में शुरू करने में शिक्षाविदों की इच्छाशक्ति मजबूत नहीं या फिर मैकाले की परम्परा को आगे बढ़ाया जा रहा है मैकॉले ने ही 1835 में तत्कालीन गवर्नर जनरल विलियम बेंटिक को अँग्रेज़ी व विज्ञान की पढ़ाई को बढ़ावा देने और स्थानीय भाषाओं तथा अरबी व संस्कृत भाषाओं के अध्ययन को सहयोग न देने की सलाह दी थी। परीक्षा प्रणाली भी एक बड़ी समस्या बनी हुई है। इसमें वही विद्यार्थी सफल होगा, जिसमें रटने की क्षमता हो, भले ही विषय उसे समझ में आ रहा हो अथवा नहीं। फिर इस प्रणाली ने यह भावना भी पैदा कर दी कि कक्षाओं में जो कुछ पढ़ाया जा रहा है, उसका जीवन की सच्चाइयों से कोई लेना-देना नहीं है।

देश के बच्चे देश पर भार नहीं, देश की सम्पदा बनें और इस देश को आगे बढ़ाएं, तो उसका सबसे पहला अनिवार्य उपाय है। विज्ञान शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा/क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग किया जाए। स्वतंत्र भारत में शिक्षा के माध्यम के रूप में अँग्रेज़ी का प्रयोग देश को दो भागों में बाँट रहा है - इंडिया और भारत।

अंग्रेज़ी को विज्ञान शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में एक तर्क यह दिया जाता है कि शब्दावली की कमी होने से विज्ञान की शिक्षा के लिए भारतीय भाषाएँ सक्षम नहीं हैं, और न ही भारतीय भाषाओं में विज्ञान आदि कि शिक्षा के लिए सामग्री है तो क्या ये संभव भी नहीं है क्या?

यदि विज्ञानों और तकनीकी जैसे विषयों के लिए भारतीय भाषाओं में शब्दावली की कुछ कमी है तो यह सरकारों और इन विषयों के विशेषज्ञों की अपनी-अपनी मातृभाषा के प्रति बेरुखी के कारण है, न कि भारतीय भाषाओं में क्षमता की कमी के कारण। यह सामग्री पैदा करनी कोई मुश्किल काम भी नहीं है। भारतीय सरकारों के बस एक इच्छाशक्ति की ज़रूरत है मेरी राय यह है क्या जो शब्द हिन्दी में मुश्किल हैं उनको अंग्रेज़ी में ही लिखा जाए, नागरी लिपि में लिखा जाए वैसे भी अध्यापको को हर एक पद को हिन्दी, अंग्रेज़ी, स्थानीय व्याख्या या फिर तुलनात्मक बतानी ही पढ़ रही है और यदि पदों की अंग्रेज़ी को देवनागरी लिपि में ही लिखा जाए तो भी सही है उदाहरण के लिए यदि वायु दबाव पद को नागरी लिपि में एयर प्रेशर लिखा जाए तो कोई हानि नहीं है, बहुत से हिन्दी में विज्ञान पुस्तके लिखने वाले लेखको ने हिंगलिश शब्दों का प्रयोग शुरू कर भी दिया है। हमे विज्ञान की शब्दावली में अंग्रेज़ी के शब्दों को स्थान देना शुरू कर देना चाहिए परन्तु यहां की जातीय राजनीति शायद इसे मुद्दा न बना ले। भारतीय विश्वविद्यालयों के भाषा विज्ञानियों को एकजुट होकर इस बारे प्रयास करने होंगें नहीं तो भारतीय दिमाग अँग्रेज़ी के प्रवाह में बहता ही रहेगा।

सम्पर्क : 9416377166

अनुभव

भाषा की पीड़ा

बलदेव सिंह महरोक

उन दिनों हरियाणा पंजाब से अभी अलग प्रांत नहीं बना था। हम नवीं कक्षा में प्रविष्ट हुए थे। स्कूल में भाषा के विषय में से हिन्दी अथवा पंजाबी को प्रथम भाषा के तौर एक को चुनना था। मेरी इच्छा हिन्दी प्रथम भाषा के रूप में पढ़ने की थी। अतः मैंने हिन्दी को चुना।

हमारे हिन्दी के अध्यापक एक शास्त्री जी थे। वे हिन्दी और संस्कृत दोनों विषय पढ़ाया करते थे। शास्त्री अध्यापक के रूप में उनका काफी सम्मान माना जाता था।

पहले दिन उन्होंने मुझे कक्षा में खड़ा कर पूछा कि तुमने हिन्दी को प्रथम भाषा के तौर पर क्यों चुना। मैंने उन्हें बताया कि मुझे हिंदी पढ़ना अच्छा लगता है।

'तुम सरदारों के लड़के हो। तुम्हें पंजाबी पढ़नी चाहिये। कल से तुम ज्ञानी जी की कक्षा में बैठना।' उन्होंने मुझे आदेश दिया। अतः न चाहते हुए भी मुझे पंजाबी का विषय लेना पड़ा। उस दिन के पश्चात् मेरे मन ने उन्हें सम्मान की दृष्टि से कभी स्वीकार नहीं किया।

ग्यारहवीं कक्षा के पश्चात् पढ़ाई भी छूट गई। नौकरी की तलाश में हम इधर-उधर भटकने लगे। फिर क्लर्क की नौकरी भी मिल गई। हिन्दी पढ़ने-लिखने की इच्छा मेरे अन्दर से कभी नहीं गई। परिस्थितियां कभी अनुकूल न रहीं। हिन्दी में छोटी-छोटी रचनायें लिख कर अपनी उस क्षुधा को पूरी करता रहा। रचनायें समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में भी छपने लगी। लेकिन यह बात आज भी मुझे खलती रहती है कि मैं अपने जीवन में न ही पूरी तरह से पंजाबी सीख पाया और न ही कभी हिन्दी।

हिन्दी विद्वानों के बीच साहित्य गोष्ठियों में जब कभी कभार बैठने का अवसर मिलता है तो हिन्दी साहित्य का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण हृदय के किसी कोने में हीन भावना लगातार सदैव बनी रहती है।

समय के 50 वर्ष के अन्तराल के पश्चात् भी आज भाषा को धर्म से जोड़ने वाली मानसिकता आज भी उसी प्रकार व्याप्त है। बल्कि और भी गहरी दिखाई देती है। लोगों की ये भावनाएं कि पंजाबी केवल सिखों की भाषा है, उर्दू मुसलमानों की और हिन्दी केवल हिन्दुओं, कितनी पीड़ादायक महसूस होती है। आज इतने वर्षों के पश्चात् भी पाता हूं कि लोगों के मनों में यह खाई घटने की बजाए बढ़ी है। भाषा लोगों को जोड़ती है-यह कहावत आज के युग में कुछ बेमानी सी लगने लगती है। उल्टे भाषा ने अब साम्प्रदायिकता का रूप ले लिया है। कट्टर भाषावादियों ने लोगों को और भी ज्यादा बांट दिया है। इसका उद्गम भारत की उस राजनीतिक व्यवस्था में से दिखता है।

विगत कुछ वर्षों से राजनीतिक घटनाक्रम के चलते भाषा की रूढ़िवादिता अर्थात अपनी भाषा को श्रेष्ठ और बाकी भाषाओं को निकृष्ट देखने की प्रवृत्ति बढ़ी है। समान धर्म होते हुए भी महाराष्ट्र जैसे प्रांत में अन्य भाषाओं से श्रेष्ठ मानते रहे हैं। तमिल वाले तो हिन्दी को कभी स्वीकार कर ही नहीं पाये। इसका दोष कहीं न कहीं हिन्दी वालों को जाता है। हिन्दी वाले क्षेत्रीय भाषाओं को कभी वह सम्मान नहीं दे पाये।

उर्दू के बारे में कहें तो हम लोगों ने उर्दू के प्रति एक स्थायी धारणा बना ली है कि यह मुसलमानों की भाषा है और इस पहलू को नकार दिया है कि यह हमारी जनमानस की भाषा है। उर्दू ने कभी नहीं कहा कि मुझे अपनी भाषा बनाओ। लेकिन इसके अन्दर के गुणों ने इसे हमेशा से लोगों के हृदयों पर राज किया ह, ऐसा मैंने महसूस किया है। उर्दू हमारी सांस्कृति और रहन-सहन में बसी रही है। हिन्दी और उर्दू में भेद करना बहुधा मुश्किल हो जाता है। लेकिन इसे धर्म विशेष से जोड़ कर हिन्दी वाले अपना अहित ही कर रहे हैं। देश की जनता के रची-बसी आम बोलचाल की भाषा को लोगों के मनों से आप दूर कैसे करोगे।

अपनी भाषा को सर्वश्रेष्ठ और अपने देश की दूसरी भाषाओं को हीनता की दृष्टि से देखने के आदी हो चुके आज हम लोग इतना नीचे गिर चुके हैं कि आज हम अपनी हिन्दी भाषा को को दोयम दर्जे की मानकर अंग्रेजी को ज्यादा सम्मान दे रहे हैं। और अपनी भाषा का उपहास उड़ाने से नहीं चूकते। और यह प्रवृति क्षेत्रीय भाषा भाषियों की निस्बत हिन्दी भाषा भाषा-भाषियों के बीच ज्यादा है। भाषा की यह प्रवृत्ति एक विचारशील व्यक्ति को मार्माहत कर जाती हैं।

अपनी भाषा देश पराया

सरोज बुरडक

जब भी जीवन में आगे बढ़ने की सोचती हूं एक ही बाधा नजर आती है अग्रेंजी। ऐसा नहीं है कि मैं अंग्रेजी सीख नहीं सकती। आज तक मैनें स्नातकोत्तर की शिक्षा/पढ़ाई अच्छे अंकों की प्राप्ति के साथ साथ सब प्रतियोगी परीक्षाएं भी पास की हैं। मैं अनपढ़ मां-बाप की बेटी ग्रामीण पृष्ठभूमि से संबंध रखने वाली लड़की सरकारी स्कूलों में हिन्दी माध्यम में शिक्षा ग्रहण करते-करते पूरे आत्मविश्वास के साथ कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय तक पहुंच गई। मुझे अत्यन्त खुशी होती थी जब मैं प्रत्येक में प्रथम क्षेणी में उतीर्ण होती थी।

लेकिन मुझे पहली बार अंग्रेजी भाषा का आघात तब लगा जब मैं एम. फिल की प्रवेश परीक्षा के लिए टाटा सामाजिक विज्ञान संस्थान, जे.एन.यू. और अम्बेडकर विश्वविद्यालय के लिए आवेदन पत्र भर रही थी, क्योंकि तब एक महाशय ने मुझ पर व्यंग्य करते हुए कहा- अंग्रेजी के चार अक्षर तुम्हे आते नहीं है और इतनी बड़ी नामी संस्थाओं में दाखिला लेने की सोच रही हो। प्रवेश को लेकर मुझे शंका होने लगी। लेकिन मैंने हार नहीं मानी और इन तीनों संस्थाओं की प्रवेश परीक्षा पास कर दी और मेरी खुशी का ठिकाना ना रहा। लेकिन जैसे ही मैं अम्बेडकर विश्वविद्यालय दिल्ली में साक्षात्कार कमेटी के सामने जब साक्षात्कार के लिए उपस्थित हुई तो कमेटी का पहला प्रश्न यही था कि स्नातकोत्तर तक की शिक्षा का माध्यम कौन सी भाषा थी? मेरा उत्तर था - हिंदी। कमेटी ने फिर दूसरा प्रश्न किया तो क्या एम. फिल. अंग्रेजी माध्यम में कर पाओगे? मैंने उत्तर दिया - जी हां। मेरा साक्षात्कार इन दो प्रश्नों में ही समाप्त हो गया। उस समय मैंने अपने ही देश में पराया महसूस किया और सोचने पर मजबूर हो गई कि जिस देश की राष्ट्र भाषा हिन्दी है उसी देश में हिन्दी भाषियों से इतनी दुर्भावना क्यों? अंग्रेजी भाषा का ज्ञान कम होने के कारण मेरा दाखिला नहीं हुआ और मेरा एक साल बर्बाद हो गया। अंग्रेजी सीखने का मेरा मन फिर भी नहीं बना, क्योंकि मुझे अपनी मातृभाषा से लगाव है, मैं इसे बचपन से सीखती आई हूं और मुझे हिन्दी भाषा में पढ़ना-लिखना अच्छा लगता है (या इसी में आरामदायक महसूस करती हूं)। लेकिन इस भाषायी भेदभाव को महसूस होने के बाद मैं हर वक्त यही सोचती रहती हूं कि - क्या भारतीय शिक्षा व्यवस्था अमीर घरानों के कान्वेन्ट स्कूलों में अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा ग्रहण करने वाले चन्द लोगों तक ही सीमित हैं। एक दिन टेलीविजन पर खबर सुन रही थी तो बड़ी बहस चल रही थी कि इतनी अधिक प्रतियोगिता होने के बाद भी आई.आई.टी. में हर साल ड्रोपआउट दर कैसे बढ़ रही है तो तथ्य बताए गए कि अंग्रेजी माध्यम का सामना ना कर पाने के कारण हिंदी भाषी विद्यार्थी बीच में छोड़ जाते हैं। यह सुनकर मैं एक बार फिर चिन्ता में डूब गई कि अंग्रेजी की आड़ में कितने संघर्षशील, ग्रामीण, हिन्दी भाषी विद्यार्थियों के सपनों का कत्ल कर दिया जाता हैं। यह मेरे देश का दुर्भाग्य है या फिर निम्न मध्यम वर्ग को शिक्षा से दूर रखने की राजनैतिक साजिश?

सम्पर्क : 9468182647

लोकोक्तियां भाषा की रक्त संवाहिका

डा. निशा सत्यजीत

भाषा को जीवन्त बनाने में लोकोक्ति महत्वपूर्ण है। जिसके बिना निष्प्राण हो जाएगी। प्रयोगकर्ता प्रसंगानुसार लोकोक्ति के प्रयोग से बात की पुष्टि करता है तो श्रोता संतुष्टि प्राप्त करता है। लोकोक्ति के प्रयोग से अनावशयक विस्तार से बचा जा सकता है। लोकोक्तियों से भाषा की प्रभावशीलता बढ़ती है व गहरा असर डालती है। असमंजस की स्थिति से उबरने में व्यक्ति के लोकोक्ति बड़ी सहायक होगी - ' के तो बाब्बा रेल म्ह, के जेळ म्ह'।

किसी भी बात का खुलासा करने या बखिया उघड़ने में लोकोक्तियां बड़ी सहायक होती हैं जैसे - 'जिसकै घर दाणे, उसके बावळे भी स्याणे।' धनी व्यक्ति का समाज में एक रुतबा होता है। लोग उसकी बातों को अहमीयत इसलिए नहीं देते कि वह व्यक्ति बुद्धिमान है, बल्कि कारण है उसका पैसा। इसीके कारण उसकी मूर्खतापूर्ण बातों को सही ठहराया जाता है और व्यक्ति का पैसा छीन जाए तो व्यक्ति को ये दुनियां उदास लगेगी - 'पैसा नहीं पास मेला लगे उदास।' वे लोग जो उसके आगे-पीछे घूमा करते थे। वही लोग उससे कोई वास्ता नहीं रखना चाहते। अब वह अपने पैसों को पाने के लिए जहां चाहे वहां गुहार लगा ले। कहीं कोई सुनवाई नहीं होनी - 'गंठी ली खोळ, पदकपल्लो पादती ए डौल।'

लोकोक्तियां बड़ी सारवान होती है। कोई भाग्यवादी व्यक्ति जीवन में संघर्ष करते-करते हताश हो गया हो। उसको ये लोकोक्ति जीवन में आगे बढ़ने की प्रेरणा देगी - 'लिखे विधाता न लेख, उघाड़-उघाड़ देख।' लोकोक्तियां न केवल कुछ लोगों के जीवनानुभवों का संग्रह हैं बल्कि भाषा के लिए खजाने की भांति है। कोई दंबग किस प्रकार अपनी मनमानी करता है। 'ठाड्डा मारै रोण कोनी दे, खाट खोस ले सोण कोनी दे।'

लोकोक्तियों भाषा की सरसता में बढ़ोतरी होगी जैसे 'गुडियां के ब्याह म्ह चींया की बखेर।' अर्थात जैसा कार्यक्रम है, उसका ताम झाम भी वैसा ही है या 'सास्सु ऊक-चूक, बहु चून बूक।' सास जिसने अपने जीवन में कभी खाना ढंग का बनाया, खाना बनाने में कोई ना कोई ऊक-चूक की ही, वहीं उस घर में बहु ऐसी आ गयी है। जो कहती है रोटी बनाने की क्या जरूरत है? सारा परिवार चून ही फांक ले। लोकोक्ति से भाषा मर्मस्पशी हो जाती है। 'बादळ आए देखकीं, मटके ना फोडया करैं। या 'हाथ म्ह ले लिया कांसा तो मांगण का के सांसा। या 'नान्नी खसम करै दोहता दंड भरै।' लोकोक्तियां भाषा की रक्त संवाहिका हैं।

एस्टिेंट प्रो. हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय कंवाली
जिला रेवाड़ी, मो. 09467263670

रामफल जख़्मी की रागनियां

दबंगों के अत्याचार

तेरी बात नै सुण-सुण कै मेरा उबळण लाग्या खून सखी
जी लिकड़ नै हो रहया सै जणु पड़ग्या घा पै नुण सखी।

पशु पाल कै करें गुजारा, खोदण घास गई थी
बाळकां नै डोके हो ज्यां, खेतों के पास गई थी
एक काटड़ी और पाळूंगी, करकै आस गई थी
म्हारे गाम के खेत उड़ै, करके विश्वास गई थी
मेरै चार लंगवाड़े फिरे चुगरदै था मेरी सुणणीया कौण सखी।

एक की दारू दो बतळाते, दो की चार दवाई
चौगरदे तै जकड़ ली, मेरी कुछ ना पार बसाई
छीना झपटी करण लागे, बणकै बकर कसाई
फिर धरती अंबर एक होया, मनै कुछ ना दिया दिखाई।
जान की धमकी देकै भाजे, थे जुल्म करणीये जोण सखी

दाती पल्ली गेर खेत म्ह, घर कानी पड़ी चाल सखी
आंख मिचौ , चक्कर आज्यां, इसी हो रही थी घायल सखी
उठ-उठ कै भस्म होण लगी सो-सो मण की झाल सखी
मात -पिता कै धौरे जाकै खोल सुणाया हाल सखी।
सुण कै बात तिवाला खागै, हाथ पैर होये सून सखी।

चाचे-ताउ गाम जोड़ न्याय की फरियाद करण लागै
जुल्म करणीये थे जो, रोळा सबतै बाध करण लागै
थारा बंध बंधवावांगे, थाम घणी अळबाद करण लागै
रामफल सिंह के जख्मों म्ह बोलों की राध भरण लागै
धकमा कै दिये घरां भेज सब खत्म करै कानून सखी।

सिस्टम

मेरे समझ म्हं आई ना, क्या सिस्टम है भगवान यहां
पशुओं की पूजा होती, भूखे मरते इंसान यहां।

सूने ढूंढ म्हं जोत जळै, रह घोर अंधेरा बस्ती म्हं
बिना मीटर के चसै बिजळी, कदै ना म्हारै दैखी चसती मैं
कुते का ईलाज विदेश होवै, म्हारी जान चली जा सस्ती म्हं
गळी-गळी म्हं दिये बना स्मारक, म्हारा दाग बेगानी धरती म्हं
रोज ज्यादती होती जा, कर दिया इसा फरमान यहां

पत्थर पै चढ़ै शाल सुनहरी, फिरता इंसान बिना धोती
बंदर, रींछ चुरमा खा, माणस की जननी रोती
माणस तरसैं रोटी को, खावैं दाल गधे-खोती
गंगा म्हं चुन सड़ै, यहां भूखे रहं दादा-पोती
जहां भीड़ बड़ी लंबी होती, सड़ते हैं पकवान यहां

मौज लंफगे मार रहै, गरीबों की घेटी मोसी जा
खून घोटाले करण वाला, कोर्ट से बेदोषी जा
कर्म कांड का भय दिखला, बेतूकी पढ़ाई ठूसी जा
मोडों के नाम जमीन यहां, म्हारी दाती पल्ली खोसी जा
संस्कृति इसी परोसी जा, दिया जात धर्म का ज्ञान यहां

ये सिस्टम ना रास आवता, हाल बदलना होगा
इस सिस्टम तै जुड रहया सै, उसका ख्याल बदलना होगा
काम करणीये इकट्ठे होकै, चाल बदलना होगा
चालै तै ना सरै, आंख कर लाल बदलना होगा
यो जाळ बदलना होगा, जख्मी की फंसी जान जहां

रामफल सिंह 'जख्मी' महम सम्पर्क -09671739987

स्याणै लेखक सैं वही, राखें सही जुगाड़।
पाट्ये तिगने नै ढकै, जड़ियें सज्या लुगाड़।।

उननै लेखक कुण कहै, जो लिखते झूठ तूफान।
ताकतवर की जो सदा, भाजैं जूती ठाण।।

चैप्टर लिख ले एक नवा, जोड़ पुराणे पांच।
नवीं किताब न्यूवैं बणै, क्यूकरै करल्यो जांच।।

डा. लक्ष्मण सिंह, रोहतक 9255957365

संकट में मातृभाषा

एक बार कई भाषाओं का जानकार राजा के दरबार में आया। जो नागरिक जिस भी भाषा में बात करता, उसी भाषा में जवाब देता। उसकी मातृभाषा का पता नहीं लग पा रहा था। एक व्यक्ति को एक तरकीब सूझी। जब वह व्यक्ति जा रहा था, उसके पैरों में टांग अड़ा दी। वह धड़ाम से गिरा और अपनी मातृभाषा में गालियां देने लगा। रोने व दर्द की अभिव्यक्ति के लिए केवल मातृभाषा उसके पास थी।

डा. भीमराव अम्बेडकर और भाषा

अनिल चमड़िया

(भारतीय परम्परा में चिंतन की दो धाराएं समानांतर रूप से स्पष्ट तौर पर चिन्हित की जा सकती है। वंचित वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली चिंतन धारा सदैव जनभाषा की पक्षधर रही है। इसके बौद्धिक नेतृत्व ने जनभाषा में ही साहित्य लिखा और जनता को संबोधित किया। फिर चाहे महात्मा बुद्ध हों या कबीर। सामाजिक क्रांति के अग्रदूत महात्मा ज्योतिबा फूले ने तो न केवल जनभाषा में साहित्य रचना की, बल्कि सामान्य जन की भाषा मराठी के रचनाकारों को भी सरकार की ओर से प्रोत्साहन मिले, इसके लिए आंदोलन की अगुवाई की थी। इससे पहले यह अनुदान केवल संस्कृत भाषा में रचित ग्रंथों को दिया जाता था। डा. अम्बेडकर भी इसी परम्परा में है, जिन्होंने ज्ञान प्राप्त करने के लिए कई भाषाएं सीखीं, लेकिन वे वर्चस्वी वर्ग की भाषा को शासकीय भाषा के पक्षधर कदापि नहीं थे। - सं.)

डा. भीमराव अम्बेडकर ने अपनी उच्च शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से पूरी की, लेकिन उनकी राजनीतिक चेतना भारत जैसे देश में अंग्रेजी के प्रचार प्रसार की पक्षधर नहीं थी। अंग्रेजों के शासनकाल के दौरान भारतीय राजनीति में जितने भी नेतृत्व उभरकर आए उनमें ज्यादातर की शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से हुई। डा. अम्बेडकर भी कोई अपवाद नहीं थे। उस दौरान भारतीय नेतृत्व के समक्ष भाषा के स्तर पर दो तरह की चुनौतियां थी। शासक के रूप में अंग्रेजों को संबोधित करना था और दूसरी तरफ स्कूली शिक्षा से भी वंचित करोडों देशवासियों को संबोधित करना था।गांधी भाषा को लेकर स्पष्ट थे। वे गुजराती थे लेकिन हिन्दी के पक्षधर थे और लोगों को उनकी भाषा में संबोधित करते थे। यदि गांधी लोगों को अंग्रेजी में संबोधित करने की कोशिश करते तो शायद उनकी देशव्यापी स्वीकार्यता नहीं बन पाती।

भाषा के प्रश्न को अंग्रेजों के शासनकाल और ब्रिटिश सत्ता के बाद के शासनकाल के बीच बांटकर देखा जाना चाहिए।अंग्रेजों के बाद की सत्ता पर यह राजनीतिक दबाव था कि वह भारतीय भाषाओं में ही संबोधित करें। उनके पठन पाठन की व्यवस्था भी उनकी भाषाओं में ही करें। यह एक राजनीतिक कार्यक्रम था। यानी सत्ता का ढांचा अंग्रेजी परस्त था लेकिन नेतृत्व पर ये दबाव था कि वह भारतीय भाषाओं में सुनें और बोले और यह समझ लें कि यह उसकी स्थायी जरूरत है। राजनीतिक परिवर्तन का सार इसमें ही निहित होता है कि सत्ता का रूपांतरण जन के अनुरूप हो सके। सत्ता चाहती है कि नेतृत्व को अपने रूप में ढाल लें। राजनीति के इस द्वंद्व को समझना महत्वपूर्ण होता है। सत्ता का जन के अनुरूप रूपांतरण में ही यह भी निहित है कि शासक वर्ग लोगों की चेतना की भाषा को समझने के लिए मजबुर होता है। इसीलिए भाषा का सवाल किसी लिपी का सवाल नहीं होता है वह आखिरकार सत्ता के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आधार से जुड़ा होता है।

ये बेहद गतल तरीके से पेश किया जाता है कि डॉ. अम्बेडकर अंग्रेजी के पक्षघर थे। भाषा को लेकर डा. भीमराव अम्बेडकर की राजनीतिक दृष्टि बहुत स्पष्ट थी और उन्होंने ये भाषावार राज्यों के गठन पर हुई बहस के दौरान बहुत साफ साफ बोला है। इतना साफ कि उसकी दूसरी व्याख्या नहीं की जा सकती है। डा. अम्बेडकर ने भाषावार प्रदेशों के पुनर्गठन पर बहस के दौरान ये कहा कि भाषा के आधार पर प्रांतो के पुनर्गठन की मांग को स्वीकार कर लेने पर भी ऐसी सवैधानिक व्यवस्था हो कि केन्द्र सरकार की जो राजभाषा हो वहीं भाषा सभी प्रांतों की भी राजभाषा मानी जाए। केवल इसी आधार पर उन्होंने भाषावार प्रांतों की मांग को स्वीकार किया। यह भी उन्होंने स्पष्ट किया कि वह भाषा हिन्दी ही हो सकती है। उनके अनुसार राज्य की भाषा हिन्दी रहेगी और

जब तक भारत इस प्रयोजन के लिए योग्य न हो जाए , अंग्रेजी बनी रहेगी।

देश के लोगों की एक नई भाषा बनाना और सत्ता को अपनी भाषा को छोड़ने के लिए बाध्य करना ,यही राजनीतिक संघर्ष देश के लिए सुनिश्चित हुआ। इस तरह से भी देखें कि एक ऐसी हिन्दी के विस्तार का राजनीतिक लक्ष्य लोगों के सामने था जो गुजराती और मराठी भी स्वीकार्य करता है। लेकिन हमें दूसरी तरफ यह ध्यान रखना होगा कि सत्ता और शासक वर्ग भी एक भाषा बनने देने की पूरी राजनीतिक प्रक्रिया को बाधित करने के लिए तत्पर रहा। यदि बहुत विस्तार में जाकर हम बात नहीं करना चाहते हो तो संक्षेप में यह कहा जाना सकता है कि हिन्दी का एक भारतीय रूप सृजित करने का राजनीतिक कार्यक्रम था तो दूसरी तरफ हिन्दी को सीमित करने के राजनीतिक इरादे थे। हिन्दी के निर्माण की यात्रा को देखे तो सहजता से वह जटिलता की तरफ धकेली गई। यह जटिलता वास्तव में एक भाषा के निर्माण को रोकने और एक शासक वर्ग की भाषा को बनाए रखने की राजनीति रही है। हिन्दी को संस्कृतनिष्ठ बनाने की प्रक्रिया वास्तव में उसके भारतीयकरण की प्रक्रिया को बाधित करना था। ठीक उसी तरह से जैसे भूमंडलीकरण के बाद खासतौर से अंग्रेजीनिष्ठ बनाने के राजनीतिक कार्यक्रम के रूप में देखी जा सकती है। यानी हिन्दी का उस मराठी,तेलुगु गुजराती, पंजाबी, बांग्ला, कश्मीरी के जरिये विस्तार होना था जो सामान्य तौर पर बोली जाती है। लेकिन वह शासक वर्ग की ऐसी भाषा के रूप में विकसित की गई जिसे विस्थापित करने का पहले से ही फैसला किया जा चुका था। यानी संस्कृत के रूप में जो शासक वर्ग था और वही अंग्रेजी के रूप में शासक वर्ग विकसित हुआ। शासक वर्ग की एक भाषा को लेकर सहमति बनी जो कि राजनीतिक प्रक्रियाओं में अभिव्यक्त होती है।

डा. अम्बेडकर भाषा को लेकर लोगों के बीच नहीं जाते दिखते हैं क्योंकि उनके समक्ष सबसे बड़ी चुनौती अंग्रेज शासकों व काग्रेंस के भारतीय नेतृत्व को संबोधित करने की थी। वे आवाम के हक हकूक के सबसे ताकतवर पैरवीकार थे। लेकिन एक राजनीतिक औजार के रूप में भाषा को लेकर उनकी समझ में कोई दुविधा नहीं थी। उन्होंने शिक्षित बनों का नारा तो दिया लेकिन उन्होने ये कहने की जरूरत नहीं समझी कि दलितों को अंग्रेजी ही पढ़नी चाहिए। लेकिन जिस तरह से डा. अम्बेडकर के शिक्षित बनो के नारे को स्कूल कॉलेज की डिग्रियों के रूप में सीमित कर दिया गया उसी तरह से अंग्रेजी को ही उनकी हितों की भाषा होने का प्रचार किया गया। वंचित वर्ग की भाषा की सत्ता स्थापित होने की लड़ाई भटकाव का शिकार होती रही है। भाषा के प्रश्न को कई तरह से उलझना कई तरह की राजनीतिक जरूरतों को पूरा करता है। देश की वंचित आवाम के सामने यह चुनौती रही है कि वह अपनी भाषाई ताकत से अपनी सत्ता के निर्माण की प्रक्रिया को तेज करें न कि अंग्रेजी दां का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करना उनका राजनीतिक लक्षय रहा है। देश में शासकों को अपनी भाषा में संबोधित कर अपनी भाषाई चेतना के स्तर पर उतरने की परिस्थितियां का निर्माण भाषा से जुड़ा रहा है। मौजूदा हालात में हम क्या पाते हैं कि ब्रिटिशकालीन भारत के बाद भी अंग्रेजी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सत्ता की भी भाषा बनी हुई है और लोकतंत्र के लिए भी उसकी जरूरत बनी हुई है। आखिर क्या कारण है कि नई आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद यहां के शासक वर्ग ने अंग्रेजी के प्रति लोगों में प्रतिस्पर्द्धा की भावना तेज करने पर सबसे ज्यादा जोर दिया। उसने वंचित वर्ग की भा, और उसकी चेतना से खुद को मुक्त महसूस किया। जनता से जुड़ी नीतिगत बातों को अंग्रेजी में ही करने की आदत को बढ़ावा दिया गया और नीतिगत स्तर पर उनकी हिस्सेदारी को रोका गया।

सम्पर्क : 9868456745

महिला विशेषांक

मार्च-अप्रैल 2016 का अंक हरियाणा में स्त्री विषय पर केंद्रित रहेगा। हरियाणा में स्त्री जीवन के (सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व साहित्यिक) सभी पक्षों पर शोध-परक, सृजनात्मक व प्रासंगिक सामग्री आमंत्रित है। लेखकों से अनुरोध है कि पुनरावृति से बचने के लिए अपने लेख के विषय में पत्रिका के सम्पादक से विचार-विमर्श कर लें।

सम्पर्क : 9416482156

शिक्षा

स्कूलों में भाषा शिक्षण की निराशाजनक दशा

-अरुण कुमार कैहरबा

हिन्दी प्राध्यापक, राजकीय वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय,
पटहेड़ा, खण्ड-इन्द्री, ज़िला करनाल (हरियाणा)

मानव जीवन में भाषा का महत्वपूर्ण स्थान है। बच्चे के सामाजीकरण की प्रक्रिया भाषा के विकास से जुड़ी हुई है। बच्चा सहज रूप से ही अपने परिवार एवं परिवेश में अनुकरण के द्वारा भाषा सीखना शुरू कर देता है। उसे सिखाने के लिए परिजनों द्वारा अनौपचारिक रूप से अभ्यास भी करवाया जाता है। स्कूल में बच्चे का भाषा विकास विशेषज्ञता की मांग करता है ताकि बिना किसी बोझ के घर में शुरू हुई इस प्रक्रिया का विकास हो सके। लेकिन स्कूलों में बच्चों के औपचारिक भाषा विकास पर अनेक तरह के सवाल खड़े हो रहे हैं।

अक्सर देखने में आता है कि स्कूलों में शिक्षा ग्रहण कर रहे बहुत बड़ी संख्या में विद्यार्थी अपने मन की बात नहीं कह पाते हैं। इसी प्रकार स्नातक कर चुके युवा प्रार्थना पत्र लिखने में अक्षम पाए जा रहे हैं। कारण क्या है? क्या भाषा शिक्षण में ही कोई दिक्कत है। आइए इन्हें समझने की कोशिश की जाए।

स्कूल में दाखिला लेने से पहले ही बच्चे दूसरों की कही गई बातों को समझना और सरल शब्दों में अपनी भावनाएं व्यक्त करना सीख जाते हैं। विशेषज्ञों का मानना है कि स्कूल में दाखिल होने से पहले ही नन्हें बच्चे हजारों शब्दों का भंडार इकट्ठा कर लेते हैं और वाक्य बनाकर बात कहने लगते हैं। उसके पास अपने परिवेश के अनुभव होते हैं। यह तथ्य उस धारणा के उलट है जिसमें आज भी माना जाता है कि बच्चे कच्ची मिट्टी या कोरी स्लेट होते हैं। कईं बार अध्यापकों द्वारा भी बच्चों को कच्ची मिट्टी के समान बताया जाता है। अध्यापक कुम्हार के रूप में उसे अपनी तरह से ढ़ालता है। कोरी स्लेट पर व्यक्तित्व निर्माण का पाठ लिखता है। इस प्रकार की धारणाएं सीखने-सिखाने की लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को नजरंदाज करती हैं।

स्कूल के औपचारिक माहौल में अध्यापक सीखने-सिखाने की प्रक्रिया का केन्द्रीय किरदार है, लेकिन उसकी भूमिका इस प्रक्रिया को बाल केन्द्रित बनाने की है। स्कूल में भाषा शिक्षण की बेहतर शुरूआत तभी होगी, जब बच्चों के शब्द भंडार, सोचने-विचारने, अनुभव करने, अनुभवों को व्यक्त करने में उसकी भाषा क्षमताओं पर यकीन किया जाएगा।

बाल मनोविज्ञान का तकाजा है कि शिक्षक सिखाने के लिए बच्चों को सरल से कठिन और स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाया जाए। भाषा शिक्षण में सबसे बड़ी विड़ंबना तब ही शुरू हो जाती है, जब घर में मुखर होकर बोलने वाला बच्चा कक्षा में चुप्पी साध लेता है। यह चुप्पी तब तक तो ठीक है, जब तक स्कूल के वातावरण के साथ अपने आप को समायोजित नहीं कर पाता। जब तक वह अध्यापक उसके लिए नया व्यक्ति है। लेकिन अध्यापक बच्चों को अनिश्चितकाल तक समझ ना पाए और दोनों एक दूसरे से पूरी तरह अनजान बने रहें। इससे अध्यापक की विशेषज्ञता पर सवाल खड़े करने को विवश करती है।

सीखने-सिखाने का दारोमदार अध्यापक और विद्यार्थी के रिश्तों पर होता है। यही बात भाषा के सीखने-सिखाने पर भी लागू होती है। भाषा सभी विषयों का आधार है। इसलिए मातृभाषा शिक्षक को बच्चों के साथ और अधिक आधारभूत रिश्ता बनाना चाहिए। उसे बच्चों की रचनात्मकता, कल्पनाशीलता, क्रियाशीलता और संभावनाओं को समझना चाहिए। बच्चों को अपनी भावनाएं, विचार व अनुभव व्यक्त करने के अवसर मिलने चाहिएं। शिक्षक को बच्चों के साथ गहरा संवाद करना चाहिए। एक ऐसा माहौल और रिश्ता विकसित होना चाहिए कि बच्चे बेबाकी से शिक्षक के सामने बोल पाएं। अपनी दिक्कतों के बारे में कह सकें। स्कूलों में भाषा-शिक्षण के तौर-तरीकों में बहुत सी दिक्कतें हैं।

किसी भी अध्यापक से भाषा के बारे में पूछा जाए तो टका-सा जवाब यही होगा कि भाषा विचारों व भावनाओं की अभिव्यक्ति का साधन और सम्प्रेषण के माध्यम है। लेकिन जिन विचारों को व्यक्त करना है, वे आते कहाँ से हैं? उनकी उत्पत्ति कैसे होती है? इसको नज़रंदाज कर दिया जाता है। मतलब साफ है कि सम्प्रेषण के माध्यम के रूप में भाषा की पहचान कुछ हद तक ही ठीक है। जाने-माने शिक्षाविद् कृष्ण कुमार ने अपनी पुस्तक 'बच्चों की भाषा और अध्यापक' में कहा है - 'हममें से भाषा को सम्प्रेषण का साधन मानने के इतने ज्यादा आदी हो चुके हैं कि हम सोचने, महसूस करने और चीजों से जुडऩे के साधन के रूप में भाषा की उपयोगिता को अक्सर भूल जाते हैं। भाषा के उपयोग का यह बड़ा दायरा उन लोगों के लिए बेहद महत्वपूर्ण है जो छोटे बच्चों के साथ काम करना चाहते हैं। लेकिन भाषा का यह सीमित अर्थ भी कक्षा तक आते-आते कहीं गुम हो जाता है और उसे एक ऐसे विषय के रूप में पढ़ाया जाता है, जिससे नैतिक शिक्षा दी जा सके।'

भाषा शिक्षण के उद्देश्य, विषय-वस्तु और विधियाँ भाषा की की सम पर निर्भर करती हैं। अब जब हमारी भाषा की समझ ही अधूरी है, तो भाषा शिक्षण के उद्देश्य भी अधूरे ही निर्धारित होते हैं। ये उद्देश्य वर्ण, शब्द व वाक्य का शुद्ध उच्चारण, तीव्र पठन, लेखन की

क्षमता, सुंदर लिखाई और नैतिक शिक्षा तक महदूद होकर रह जाते हैं। शिक्षकों में यह भी आम धारणा है कि भाषा टुकड़ों-टुकड़ों में सीखी जाती है। बाद में इन टुकड़ों को जोड़ा जाता है। जैसे स्वर व व्यंजन पढना, फिर लिखना, मात्राएं, वर्णों को जोड़ कर शब्द कर निर्माण, शब्दों के द्वारा वाक्य का निर्माण आदि। भाषा के चार बुनियादी कौशल माने जाते हैं-श्रवण कौशल, मौखिक अभिव्यक्ति कौशल, पठन कौशल और लेखन कौशल। यही भाषा सीखने का क्रम भी है। लेकिन इन्हें टुकड़ों-टुकड़ों में देखना सही दृष्टिकोण नहीं है।

विडंबनापूर्ण है कि स्कूल में मौखिक अभिव्यक्ति की तरफ समुचित ध्यान नहीं दिया जाता। कईं बार तो लेखन को ही भाषा शिक्षण का एकमात्र उद्देश्य मानकर चला जाता है। सुनने-बोलने के लिए सहज वातावरण और अवसर उपलब्ध करवाने की बजाय अध्यापक उससे दो कदम आगे बढ़कर लिखना सिखाने लगता है। लिखना एक स्वतंत्र कौशल की तरह मशीनी ढ़ंग से सिखाया जाता है। एक ही काम को बार-बार करवाए जाने से बच्चों में भाषा के प्रति ऊब पैदा हो जाती है।

नन्हें बच्चों पर दूसरी भाषा अंग्रेजी का अनावश्यक बोझ भी उनके सीखने के उत्साह को कुंद कर देता है। शिक्षाविद् यह बात कह-कह कर थक चुके हैं कि प्राथमिक विद्यालय में मातृभाषा के अलावा अन्य भाषा का बोझ नहीं डाला जाना चाहिए। यहां तो यह बोझ जन्म लेते ही शुरू हो जाता है। नन्हें बच्चों पर दो-दो भाषाओं का बोझ निश्चय ही उनके साथ अन्याय है। कईं तथाकथित पब्लिक स्कूलों में तो मातृभाषा का प्रयोग दंडनीय है। अंग्रेजी मीडियम के नाम पर बच्चों की मौलिकता और रचनात्मकता छीनी जा रही है। मातृभाषाओं की उपेक्षा करके अंग्रेजी का बोझ लादना और अधिक अन्यायकारी है।

भाषा सीखने-सिखाने के लिए प्रातःकालीन सभा, बाल सभा व इसी प्रकार के अन्य मंच महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। प्रातःकालीन सभा व बाल सभाएं स्कूली शिक्षा में ऐसे मंच रहे हैं, जिनका प्रयोग भाषा शिक्षकों द्वारा बखूबी किया जाता रहा है। इन सभाओं में बच्चों को गीत व प्रार्थना गाने, समाचार पढने, किस्सा-कहानी सुनने और सुनाने का मौका मिलता है।

अध्यापक बच्चों की जरूरत की पहचान करके विषय वस्तु का चयन करे और विभिन्न साहित्यिक विधाओं में संवाद करे, तो निय ही बच्चों में भाषा सीखने का उत्साह पैदा होगा। क्या ऐसा हो रहा है? जवाब है बहुत कम। कारण शिक्षण प्रक्रिया का केन्द्रीय किरदार माना जाने वाला शिक्षक दबावों से जूझ रहा है। कक्षा-कक्ष एवं स्कूल में उसे काम करने की स्वायतता नहीं मिल पा रही है। परीक्षा के दबाव में अधिक से अधिक जल्दी-जल्दी पढ़ाने की होड़ मची है। इसकी परवाह नहीं है कि विद्याथी सीख क्या रहे हैं। रट्टापद्धति ने समझ के साथ सीखने की जरूरत को हाशिए पर ला दिया है। सीखने-समझने में बच्चों के अनुभवों का लाभ नहीं लिया जाता। बस गाय का प्रस्ताव है और याद करना है। रट्टे की इस प्रणाली ने रचना शिक्षण को बेमानी बना दिया है। वह परीक्षा के अलावा भी अन्य अनेक दबाव झेल रहा है। परीक्षा के लिए भी आनंददायी सीखने-सिखाने की प्रक्रिया की जरूरत है। रचना शिक्षण तो नहीं के बराबर ही है। यही कारण है कि बच्चे में आत्मनिर्भरता के साथ अपने अनुभवों को लिखने का आत्मविश्वास ही पैदा नहीं होता। फिर जीवन परिस्थितियों में कुछ भी लिखने की जरूरत हो, वह लिख ही नहीं पाता है। यही हाल बोल कर अपनी बात कहने की क्षमता का भी है।

साहित्य अपने आप में रोचकता और रमणीयता लिए हुए होता है। साहित्य पढ़ कर मन में खुशी पैदा होती है। उच्च जीवन-मूल्य पैदा होते हैं। साहित्य संवेदनशील नागरिक बनाने में अहम भूमिका निभाता है। साहित्य वाचन से अध्यापक छात्रों को पढने के सही ढंग से अवगत करवाता है। शब्दों के सही उच्चारण का अभ्यास करवाता है और कठिन शब्दों के अर्थ सीखता-सीखता बच्चा अपने शब्द भंडार का विकास करता है। बच्चे का बौद्धिक विकास भी होता है।

कभी कहानी कहना सीखता है और कभी कहानियों, एकांकियों के पात्रों का अभिनय करके अभिव्यक्ति के गुर सीखता है। इसी प्रकार कविताओं के शिक्षण में भाषा के उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए विधि व सही प्रक्रिया का चयन करना जरूरी है। इन्हें पढ़ाने में आदर्श सस्वर वाचन, गायन, कठिन शब्दों के अर्थ, अनुकरण वाचन व व्याख्या की जाती है। लेकिन सबसे बड़ी विड़ंबना यह है कि साहित्य का शिक्षण सही प्रकार से नहीं होता है। इस प्रकार आनंद का स्रोत साहित्य बच्चों के जी का जंजाल बना दिया जाता है।

परीक्षाओं के ही चक्कर में फंसे कईं अध्यापक तो बच्चों को पाठ्य-पुस्तकों के दर्शन ही नहीं होने देते। वे कुंजियों का प्रयोग करके सार पढ़ाते हैं और प्रश्न रटवाते हैं। अध्यापक उनसे अपनी तरह से प्रश्न नहीं पूछता कि वे सोचना शुरू करें। वह उनसे कुंजियों के प्रश्न - पूछता है और बने-बनाए जवाब की अपेक्षा करता है। यह भी देखने में आया है कि बच्चे प्रश्न करते हैं तो उन्हें दबाया जाता है। इसलिए भी बच्चे प्रश्न नहीं पूछते। कईं बार बच्चों को पाठ्यपुस्तक पढ़ाई तो जाती है, लेकिन तू-पढ़ विधि प्रयोग में लाई जाती है। बच्चे अपने आप ही पढ़-पढ़ा लेते हैं और अध्यापक ध्यान नहीं दे पाता है। अन्य विषयों की तरह हिन्दी शिक्षण में भी अक्सर बच्चों से दिए गए प्रश्नों का लिखित टेस्ट लिया जाता है और अगले प्रश्न याद करने के लिए दे दिए जाते हैं।

मातृभाषा के जिस विषय में बच्चों को सहारा मिलना चाहिए, उसी विषय की कक्षा में बच्चे सबसे अधिक बेसहारा हो जाएं तो यह स्थिति सबसे अधिक विकट है। निराशाजनक हिन्दी शिक्षण के कारण आज विद्यार्थियों के पास अपनी भाषा नहीं है। कक्षा-कक्षा स्कूल में फैली इस निराशा का जीवन की अन्य परिस्थितियों में भी प्रभाव झलकता है।

सम्पर्क -09466220145

भाषा और लैंगिक वर्चस्व

-निर्मला
शोधार्थी, हिन्दी हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय
जांट-पाली, महेंद्रगढ़

भाषा व्यक्ति को अभिव्यक्ति करती है। उसे मनुष्य बनाती है। भाषा ही मानव को अन्य जीवों से भिन्न व श्रेष्ठ बनाती है। आदिम काल में क्रमिक विकास में जब मनुष्य ने भाषा सीखी तो वह मात्र भाषा थी। समाज की स्थिति के अनुरूप ही तब भाषा का प्रयोग भेदभाव रहित था अर्थात् वर्ग, वर्ण, जाति, लिंग आदि के आधार पर न सामाजिक भेदभाव था, न ही भाषायी। कालांतर में परिवार समाज में सम्पति के अधिकार, निर्णय की भागीदारी पितृसता की उत्पत्ति के साथ-साथ भाषायी बदलाव भी आया। भाषा अब मात्र भाषा न रहकर वर्गीय, वर्णीय, जातिय व लैंगिक भाषा बन गई।

मौखिक भाषा को लिखित रूप देने के लिए लिपि व व्याकरण का निर्माण किया गया। व्याकरण में भी आगे चलकर लिंग, वचन, कारक, क्रिया, उपसर्ग, प्रत्यय आदि अनेकों खंडों का निर्धारण करके भाषा को व्यवस्थित रूप देने की कोशिश की गई। भाषा की संरचना में लिंग निर्धारण सबसे महत्वपूर्ण माना जा सकता है, क्योंकि यह सामाजिक संरचना का भी आधार है और भाषायी संरचना का भी। लिंग का अर्थ है - चिन्ह, जिससे किसी वस्तु को पहचाना जा सके। लिंग दो प्रकार के हैं-1. प्राकृतिक या जन्म सिद्ध 2. व्याकरणिक। प्राकृतिक लिंग में पुरुष और स्त्री का कुछ अवयव-संस्थाओं के द्वारा निर्णय किया जाता है। स्तन, केश आदि के द्वारा स्त्री। रोम, मूंछ आदि के द्वारा पुरुष। व्याकरणिक लिंग प्राकृतिक लिंग का अनुसरण अनिवार्य रूप से नहीं करते हैं। संस्कृत, जर्मन आदि भाषाओं में तीन लिंग प्रचलित हैं। इनके लिए अलग चिन्ह भी निर्दिष्ट हैं। इनके नाम हैं पुलिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसक लिंग।[1] संस्कृत में जो तीन लिंग थे वे पालि, प्राकृत अपभ्रंश से हिन्दी में आते-आते दो ही लिंग रह गए। नपुसकलिंग यानी ऐसा लिंग जिसके बारे में जानकारी न हो, जो अज्ञात हो। हिन्दी में इस अज्ञात को भी पुल्लिंग में समाहित कर दिया गया।

हिन्दी भाषा के व्याकरण के विकास में जिन शब्दों का निर्माण हुआ, उनमें अधिकतर का निर्माण पुल्लिंग रूप में हुआ और फिर उन्हीं शब्दों को जोड़-घटाकर स्त्रीलिंग शब्दों का निर्माण किया जाने लगा जैसे लड़का-लड़की, बालक-बालिका, युवक-युवती आदि। ठीक भाषा में दो लिंगों की तरह ही समाज भी अपनी भूमिका, काम का बंटवारा, निर्णय की भागीदारी व यहां तक कि अस्तित्व और पहचान की लड़ाई में भी दो हिस्सों में बंट चुका है, जिसमें एक हिस्सा (पुल्लिंग या पुरुष) जिसे नारीवादियों की भाषा में पितृसत्ता कहा जाता है, मुख्य हिस्से के रूप में सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ सामने आया है, जिसे आधार माना गया है व दूसरा गौण हिस्सा (स्त्रीलिंग या स्त्रियां) आश्रित के रूप में सामने आया है। इसी आश्रय और आश्रित के खेल में पुरुषों ने सभी निर्णयों व सत्ता को अपने अधिकार में ले लिया और स्त्रियों को सभी निर्णयों से बाहर कर दिया गया। निर्णयों में भाषा का निर्माण व लिपि, व्याकरण आदि का निर्धारण भी आता है, जिसका निर्णय पुरुषों ने अपने हाथ में लिया और स्त्री विरोधी पुरुषवादी भाषा का रूप हमारे सामने आया, जिसे हम सभी स्तरों पर बहुत आसानी से पहचान व समझ सकते हैं। व्याकरण में वाक्यों के निर्माण में भी लैंगिक भेदभाव साफ देखा जा सकता है, जिसमें 'कमला यहां आ, नाच दिखा, खाना बना' 'रमेश स्कूल जा, पढ़कर आ, बाहर खेल' में शब्दों के साथ क्रियाओं का भी विभाजन करके स्त्री व पुरुष को अलग-अलग रूपों में संस्कारित किया गया है।

'प्रत्येक भाषा में लिंग का आधार प्राकृतिक लिंग ही नहीं है। अमेरिका और अफ्रीका की कुछ भाषाओं में भी चेतन और अचेतन के आधार पर लिंग-विभाजन होता है। अलगोन्किन और स्लावी भाषा में चेतन और अचेतन के आधार पर ही लिंग है। पूर्वी अफ्रीका के मसई लोगों की भाषा में लंबी और सबल वस्तुओं के लिए अलग लिंग (पुलिंग) और छोटी या निर्बल के लिए अलग लिंग (स्त्रीलिंग)।[2] हिन्दी भाषा व संबंधित बोलियों में भी जिन वस्तुओं का आकार बड़ा व अधिक कार्यक्षमता है। उनका नाम पुरुषवाचक रखा गया है। जैसे पहाड़, बादल, भरोटा, हथौड़ा, गिलास, राह (रास्ता) आदि, जबकि इन्हीं चीजों के छोटे रूप को स्त्रीवाचक शब्दों में समझा जाता है। जैसे पहाड़ी बादली, भरौटी, हथौड़ी, गिलासी, राही आदि। खेलों में भी पीटने वाली वस्तुओं के नाम पुरुषवाचक व पिटने वाली वस्तुओं के नाम स्त्रीवाचक रखे गए हैं। जैसे गुल्ली-डंडा, गेंद, बल्ला, चिड़ी-बल्ला, स्टाइकर-गुट्टियां आदि।

कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाए, तो काटने, पीटने, ठोकने वाली वस्तुओं के नाम पुरुषवाचक रखे गए हैं। जैसे गंडासा, चाकू, हत्था, मुस्सल, बट्टा (चटनी रगड़ने के लिए इस्तेमाल होने वाला

यंत्र, इसे घोट्टा भी कहते हैं) जबकि सजाने वाली वस्तुओं के नाम स्त्रीवाचक हो गए हैं। जैसे टोकरी, ट्रे आदि। इसके अलावा आधार प्रदान करने वाली व आधारित रहने वाली वस्तुओं के नामों में भी लैंगिक भेदभाव साफ नज़र आता है। जैसे ट्रैक्टर-ट्राली, इंजन-गाड़ी, पेड़-लता आदि।

इसी भाषागत भेदभाव के चलते ही स्त्रियों के नाम भी ज्यादातर बहुत ही कोमलवृति के व सुंदर-नाम वस्तुओं पर और यहां तक कि खाने की वस्तुओं पर रखे जाते हैं जैसे-मोहिनी, सुशीला, संतोषी, कामिनी, अंतरिक्ष परी, नवनीत, स्वीटी, खुशबू, अंगूरी, संतरो, केलो, बर्फी, पतासो आदि। पुरुषों के नाम अधिकतर सम्पूर्णता का बोध कराने वाले मजबूत व खुंखार होते हैं। जैसे दारा सिंह, दरिया सिंह, गंगाराम, शेर सिंह, रामेश्वर आदि।

इसी भाषायी भेदभाव से स्त्रियों का अस्तित्व होता चला गया। उनकी व्यक्तिगत पहचान खत्म हो चुकी है और उन्हें धर्मपत्नी, सुपुत्री व मां के रूप में भी पुरुष से पहचान मिल रही है। जैसे श्रीमती विश्वास, श्रीमती कैलाश आदि और हमेशा पहचान पत्र में उनके नाम के साथ D/o, W/o लिखा जाता है। भाषा का पुरुषवादी रूप बनाकर स्त्री को नगण्य बनाने के साथ-साथ पुरुष को एक मौका और हाथ लगा, जिसमें स्त्रियों के प्रति अपनी कुंठा को उसने खुलकर प्रकट किया, वह है गालियां। हमारे समाज में जितने भी चुटकले, हास्य-व्यंग्य या गालियां बनती हैं। सब निरीह कमजोर और अल्पसंख्यक, दबे-कुचले लोगों पर बनती हैं। स्त्री भी क्योंकि दूसरे दर्जे का प्राणी समझी जाती है और इसी कारण जितनी भी गालियां पुरुषों ने ईजाद की हैं, उनमें अधिकतर स्त्रीसूचक हैं। चाहे वह मां, बहन, बेटी के नाम पर हों या सम्पूर्ण स्त्री जाति के लिए।

भाषायी व सामाजिक मूल्यांकन में स्त्री का पद इतना गौण नजर आता है कि आम बोलचाल में भी सबसे छोटी व सबसे बड़ी चीजों के नाम इस प्रकार लिए जाते हैं। 'सूर्य से मुस्सल तक' व 'कीड़ी से हाथी तक' ये गौण स्त्रीवाचक वस्तुएं जब समग्रता में देखी जाती हैं। तो पुरुषवादी अस्तित्व के साथ। ईंट, मिट्टी, सीमेंट, बजरी, क्रेशर आदि से दीवारें व छत्त तैयार की जाती है, तो सम्पूर्णता में वह भवन, मकान या घर कहलाता है। रोटी, दाल, सब्जी को भी भोजन कहा जाता है। पुल्लिंग में स्त्रीलिंग का समावेश इस प्रकार किया गया है कि स्त्रीलिंग गौण व पुल्लिंग मुख्य हो गया है। 'विधान का नियम है 'He includes she' अर्थात पुल्लिंग में स्त्रीलिंग का समावेश है।[3]

भाषा चूंकि विचार का माध्यम है इसलिए विचारों के बदलाव के लिए पहले भाषा की संरचना को समझना व बदलना जरूरी है। भाषा-विचार और समाज तीनों में बदलाव तभी संभव है।

1. द्विवेदी कपिल देव, भाषा-विज्ञान एवं भाषा शास्त्र, पृष्ठ-269
2. वही, पृष्ठ-270 3. वही, पृष्ठ-347

सम्पर्क-03468335275

पुस्तक समीक्षा

मौन आहों में बुझी तलवार

-जयपाल

शमशेर की यही पंक्ति बनी है ओम सिंह अशफाक की सद्यः प्रकाशित संस्मरणात्मक पुस्तक का शीर्षक संस्मरण कैसे रहे होंगे, क्या कुछ रहा होगा लेखक के मन में, यह सब तो उनकी पुस्तक के शीर्षक, पुस्तक पर छपे शमशेर, शिवकुमार मिश्र, भगवत रावत और ओमप्रकाश वाल्मीकि के चित्र से ही स्पष्ट हो जाता है। पुस्तक में प्रवेश करते ही आबिद आलमी, ओ.पी. ग्रेवाल, ललित कार्तिकेय, सरबजीत, तारा पांचाल, रामेश्वर गुप्त और कृष्ण कुमार के नाम भी सामने आते हैं। इन नामों को पढ़ते ही एक पूरा साहित्यिक परिदृश्य या कहिये एक साहित्यिक युग हमारे सामने आ खड़ा होता है। जैसे-जैसे इन रचनाकारों के जीवन के बारे में पढ़ते जाते हैं, इन लेखकों की रचनाशीलता, प्रतिबद्धता, गंभीरता, सामाजिक सरोकार, अपने समय से टकराहट, विश्लेषण और बेबाक ईमानदार साहित्यिक अभिव्यक्ति किसी एक क्लासिक फिल्म की तरह हमारे सामने आते हैं। एक प्रेरणा स्तम्भ के तौर पर मानो आज के रचनाकारों को आगाह कर रहे हों - उठो, लड़ो, और संघर्ष करो! सोचो, समझो और विश्लेषण करो। अपने समय को जानो, जियो और लिखो। इन सभी संस्मरणों के बीच में बैठे हैं खुद ओम सिंह अशफाक-'मैं कहता आँखिन की देखी' कबीर की रौ में। अशफाक ने इन संस्मरणों को लिखते समय बहुत ही संवेदनशीलता, साहित्यिक प्रवाहता, जीवंतता और अपनत्व भरी टिप्पणियाँ की हैं। ऐसा करते समय कहीं-कहीं वे भावुक भी हो गए। भावुक होना बुरा नही पर बह जाना भी ठीक नहीं! (बहाव अब कहाँ ले जाये, कौन जाने!) शिव कुमार मिश्र, शमशेर और ओ. पी. ग्रेवाल के साथ अशफाक के पारिवारिक सम्बन्ध रहे हैं। ललित कार्तिकेय, तारा पांचाल, सरबजीत, ओमप्रकाश वाल्मीकि, रामेश्वर गुप्त उनकी मित्र मण्डली है। ये सभी रचनाकार जनवादी लेखक संघ की हरियाणा इकाई (कुरुक्षेत्र) और केंद्रीय इकाई (दिल्ली) से जुड़ रहे हैं। कुरुक्षेत्र, रोहतक, करनाल, हिसार, अम्बाला, कैथल, पंचकुला आदि की गोष्ठियों और कलकत्ता, पटना, जयपुर, धनबाद, इलाहाबाद, कुरुक्षेत्र आदि के राष्ट्रीय सम्मेलनों में उक्त लेखकों में से ज्यादातर साहित्यिक विमर्श में भाग लेते रहे हैं। इन सबके सूत्रधार रहे हैं - डा. ओ. पी ग्रेवाल! एक-एक कर सब चले गए- इन सबको एक भावपूर्ण कवि की भावपूर्ण श्रद्धांजलि है उक्त पुस्तक समाज, राजनीति, साहित्य और संस्कृति के एक सक्रिय कार्यकर्ता और रचनाकार श्री ओम सिंह अशफाक का यह प्रयास नए रचनाकारों के लिए प्रेरणा स्रोत साबित होगा।

पुस्तक : मौन आहों में बुझी तलवार
प्रकाशक : स्वराज प्रकाशन दिल्ली

पुस्तक समीक्षा

मुझे यक़ीन है कि पानी यहीं से निकलेगा

ओम प्रभाकर

'गांव भीतर गांव' सत्यनारायण पटेल का ये पहला उपन्यास है और लेखक एक मेहनती, ईमानदार और समर्पित कथाकार है। गांव की इस कहानी को आप पढ़ लीजिए, तो आपको देश के लगभग सभी गांवों की सत्य कथा की जानकारी हो जाएगी। मालवा के इस एक अनाम गांव की हक़ीक़त जान कर आप इस महादेश के तक़रीबन सभी गांवों की असलियत जान सकते हैं कि आज देश के लगभग सभी गाँव किस तरह मरते-मरते जी रहे हैं। यह किताब भारतीय गांवों का मुकम्मिल आइना है। मुकम्मिल चलचित्र। इसमें किसी भी गांव की (बहुत कम) अच्छाइयों और (बहुत ज्यादा) बुराइयों को देखा जा सकता है। सभी एक समान दुःखी, निस्सहाय, मरने की राह देखते हुए जीवित रहने की जद्दोजहद करते हुए। अपने मन, विवेक, चरित्र और आत्मा को कुचलते हुए आज के भारत के सभी गांव एक जैसा अमानवीय जीवन व्यतीत करने को विवश हैं। 'गांव भीतर गांव' मेरे ख़याल से विगत कई दशकों से चली आई कदाचार के कोढ़ से ग्रस्त समाज-व्यवस्था को वैयक्तिक और सामूहिक प्रयासों से बदलने या 'ठीक' करने की प्रमाणिक और जीवित कथा-रचना है।

सत्यनारायण पटेल ने अपने उपन्यास में एक दलित, निरीह, विधवा और निर्धन स्त्री झब्बू को रचना के केन्द्र में रखा है। झब्बू है- एक दलित, विधवा, निरीह शोषित और निर्धन औरत कि उपन्यास की सारी घटनाएं उसी से निस्सृत होकर अंततः उसी में विलीन हो जाती हैं।

कथा-नायिका झब्बू - अपनी अंतःशक्ति- को समेटती है और गाँव की अपनी जैसी निरीह और दलित औरतों को अपने इर्द-गिर्द इकट्ठा करती है- सिर्फ़ जीवित बने रहने के लिए संघर्ष हेतु।

झब्बू अपनी जैसी ही दो-चार 'ज़िन्दा' औरतों के सहयोग से गाँव के बीचोंबीच खुली दबंग जाम सिंह की कलारी हटवा देती हैं। यानी अपनी सहन शक्ति को डटे रहने की मारक शक्ति में तब्दील कर लेती है। रामरती आदि को समझा कर हाथों से पाखानों की सफ़ाई के पारम्परिक जातिगत पेशे को बंद करवा देती है। झब्बू अपने धीरज और हिम्मत के अलावा अपनी जैसी निस्सहाय औरतों के सहयोग से गाँव में इतना बदलाव ला देती है कि पड़ौसी ज़िला मुख्यालय से सामाजिक, नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक कदाचरण में पूर्णतः दीक्षित जाम सिंह, अर्जुन, गणपत, शुक्ला जी और दुबे मास्टर भी ठिठक कर विचार करने लगते हैं कि इस अधम औरत से कैसे पार पाएं?

शहरों का दस शीश और बीस भुजाओं वाला कदाचरण किस तरह गांवों में संक्रमित में होता है- सत्यनारायण ने उसकी सूक्ष्मता को बड़े कौशल से उजागर किया है।

सालों-साल से अभावों से जूझता और रुढ़ियों को ढोता गाँव जब पड़ौसी शहर की संगत में आता है तो जैसे करेला नीम चढ़ जाता है। कुछ तो गाँव की अपनी रीतियों-रुढ़ियों का पारम्परिक कड़वापन था ही, और अब तो शहर की लम्पटता धोखा धड़ी, हिंसा, पुलिस, कचहरी, वकील, गवाह सबूत आदि ग्रामीण समाज को 'सत्यनाश' से धकेल कर 'साढ़े सत्यानाश' में ठेल देते हैं।

आज का भारतीय गांव केवल अपनी रुढ़ियों, परंपराओं और निरीहता से ही परेशान और दुखी नहीं है, शहरों की कतिपय बदकारियां, मक्कारियां भी दबे क़दमों गांवों में दाखिल हो रही हैं। और इन में सब से सफल और सुशोभित अय्यारी है - एनजीओ। एक एनजीओ कमी रफीक़ भाई, जब अख़बार में ख़बर पढ़ता है कि अमुक गांव में कुछ औरतों ने एकमत हो शराब की दुकान बंद करा दी है और गांव में बेचौनी और ग़ुस्सा है। बस, इतना बहुत है। रफीक़ भाई उस गांव पहुंच जाता है। उन दलित स्त्रियों से मिलता है, उनकी हिम्मत की दाद देता है। उनके साथ ज़मीन में बैठ कर चाय पीता है। गांव में हाथ से मैला साफ़ करने की चली आ रही परंपरा पर बात करता है। उन अनपढ़, किन्तु बदलाव के लिए बेचैन औरतों को अपनी समझ बनाने में मदद करता है। उन्हें अपने एनजीओ 'सम्मान' के बारे में बताता है। औरतें रफीक़ भाई को अपना सबसे बड़ा हितैषी मानने लगती हैं।

उपन्यास 'गांव भीतर गांव' एक ऐसा आख्यान है, जिसे पाठक एक बार पढ़ना शुरू करे, तो फिर वह चाहकर भी छोड़ नहीं सकता। उपन्यास में किस्से दर किस्से पाठक को अपने साथ बहाते ही जाते हैं। उपन्यास की भाषा बहुत ही जीवंत है। वाक्यों के भीतर, दो लाइनों के बीच कविता जैसा स्वाद महसूस होता है। लेकिन जब अर्थ पाठक के मन में खुलता-घुलता है, तो पाठक बेचैन हो उठता है। सड़ी-गली व्यवस्था के प्रति उसके मन में ग़ुस्सा पैदा होता है। लेकिन भाषा की ही ताक़त है कि उसके ग़ुस्से को बेकाबू नहीं होने देती है, और उसे पृष्ठ दर पृष्ठ बहाती ले जाती है। भाषा मालवा की संस्कृति, बोली की महक़ से पगी है। और नये-नये मुहावरों, लोकोक्तियों और भजनों से उसका परिचय कराती है।

उपन्यास : गांव भीतर गांव
प्रकाशक : आधार प्रकाशन पंचकूला- (हरियाणा)

ओम प्रभाकर, 141, राजाराम नगर, देवास- 09977116433

दलित अस्मिता एवं चेतना की कृति

डॉ- देवनारायण पासवान 'देव'
सेवानिवृत प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
जगजीवन कॉलेज, गया (बिहार)

'दलित समाज की कहानियां' दलित कहानीकार रतनकुमार सांभरिया की चौबीस कहानियों का एक अपूर्व-अनुपम संग्रह है। वह इस अर्थ में कि संग्रह की सभी कहानियां 'पूंजीवादी ताकतों, सामंती दर्प और ब्राह्मणवादी प्रवृत्तियों से कदम-दम-कदम लड़ते आगे निकलने वाली रचनाएं हैं। प्रस्तुत संग्रह की कहानियां अम्बेडकरवादी सीख और सबक को लेकर चलने वाली कहानियां हैं, जो दलित समाज के विकास, पुनर्वास एवं उदात्त अस्मिता की चेतना भरती हैं।

सभी चौबीस कहानियां किसी-न-किसी सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कथा मासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक एवं वार्षिक कथा-स्मारिका में समुचित स्थान, पहचान एवं सम्मान मिला है, जैसे- 'हंस' (फुलवा और चमरवा), 'कथादेश' (बकरी के दो बच्चे और 'गूंज' तथा बिपर सूदर एक कीने') 'कथाक्रम' (काल और लाठी) 'वागर्थ' (बूढ़ी और इत्तफाक), 'अक्षरा' (शर्त), 'मधुमती' (झंझा), 'वसुधा' (डंक), ''सहारा समय'' (चपड़ासन), 'अपेक्षा' ('बाढ़ में वोट'), 'पुनर्नवा' (बदन-दबना), 'विपाशा' (हथौड़ा), 'नवज्योति' (आखेट), 'साक्षात्कार' (मियांजान की मुर्गी), 'समकालीन भारतीय साहित्य' (भैंस), अमरीका से सम्पादित 'अन्यथा' (बात और मुक्ति), 'राजस्थान पत्रिका' (खेत) तथा 'नई धारा' में (मेरा घर)।

सांभरिया की कहानियों के कथानक जमीनी सच से जुड़े, उत्साह और जीवट का द्योतन करनेवाले तथा विकास और पुनर्वास की कल्पनाओं से प्रसूत तथ्यों पर आधृत हैं। यह भी सच है कि उनके द्वारा सृजित प्रायः सभी दलित नायक अभावों में जीकर भी दबावों में जीने से इंकार करते हैं, संग्रह की सभी कहानियों के दलित नायकों का जिक्र करना तो संभव नहीं है किन्तु उदाहरण के लिए 'फुलवा' की फुलवा, 'बकरी के दो बच्चे' के रामदुलारे, 'इत्तफाक' की बुढ़िया, 'बिपर सूदर एक कीने' के श्यामू वगैरह को लिया जा सकता है।

कथन और वर्णन-विश्लेषण से कहानीकार श्री सांभरिया ने दलितों को समाज की मुख्यधारा से जोड़ने का सार्थक प्रयत्न किया है। दलित कहानी की यह चेतना उसकी वस्तु-छवि और रूप-छवि को सार्थक व सुन्दर बनाती है। दलित समाज की ये कहानियां दलित पात्रों को सामाजिक आंदोलनों से जोड़ती हैं। उनके अन्दर दबावों से मुक्त होने का बल और प्रेरणा भरती हैं, और सबसे बड़ी बात, ये कहानियां दलित साहित्य को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य जगत में एक विशिष्ट स्थान व पहचान प्रदान करती हैं।

वैसे तो संग्रह की प्रत्येक कहानी का अपना अलग वजूद और विशेषता है, किन्तु 'फुलवा', 'बकरी के दो बच्चे' 'बिपर सूदर एक कीने' एवं 'इत्तफाक' व 'बदन-दबना' के अतिरिक्त 'शर्त' 'बात' 'सवांखें', 'मुक्ति' और 'झंझा' अपने वस्तु और रूपबंध में दलित जीवन को सार्थक करने वाली कहानियां हैं। इन रचनाओं में प्रतीक एवं बिम्ब-विधान का जो रूपबंध है, भाषा का जो अंदाजेबयां है, वातावरण का जो सृजन है, वे चमत्कृत ही नहीं करते, अपितु दलित कहानी के सौन्दर्य-बोध के प्रति आश्वस्त भी करते हैं।

कथावस्तु के विकास में, जिन घटनाओं और प्रसंगों को स्थान मिला है, वे प्रतिशोध भाव की सीमा-रेखा का भी अतिक्रमण नहीं करते, प्रतिकार का कथन-दिग्दर्शन दलित साहित्य के शरीर में सांस के समान है, गोया कि वह प्राण हैं लेकिन 'प्रतिशोध ' के भावों का प्रदर्शन कहीं से भी न्यायोचित नहीं है। वह दलित साहित्य के सौन्दर्य-शास्त्र का अतिक्रमण ही नहीं, घृणित पक्ष भी है, अतः सर्वथा अस्वीकार्य है।

दलित किरदारों को बखूबी गढ़ा है। वास्तव में इस फन के उस्ताद हैं लेखक। हम यह निर्णय करने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं कि सांभरिया जी की कौन कहानी श्रेष्ठ है, कौन साधारण! 'को बड़ छोट कहत अपराधू' की-सी हमारी मानसिक अवस्था है। क्योंकि इनकी कहानियों की कथा-वस्तु ही नहीं वरन् उनमें वर्णित वातावरण (देश-काल) भी पात्रें के चरित्रांकन को उभारने में अनुकूलन का काम करते हैं। एक तो भाषा पात्रानुकूल है, दूसरे संवाद चुटीले और उनमें प्रयुक्त मुहावरे, कहावतें, सूक्तियां तथा प्रतीक आदि उनकी उत्कृष्टता एवं सुन्दरता तथा अर्थ-विन्यास व विस्तार में सितारे टांकते, चांद उगाते -से हैं।

इस प्रकार श्री सांभरिया कृत ''दलित समाज की कहानियां मानो दलित-अस्मिता एवं चेतना का एक सवाक-सचित्र 'अलबम' है।

पुस्तक : 'दलित समाज की कहानियां' (कहानी संग्रह)
प्रकाशक : अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स नई दिल्ली

डा. ओम प्रकाश ग्रेवाल स्मृति व्याख्यान

(दिनांक 7 जून 2015 सुबह 11 बजे पंचायत भवन कुरुक्षेत्र)

कृषि संकट : 'विविध आयाम' विषय पर प्रख्यात कृषि वैज्ञानिक डा. देवेंद्र कुमार ने सभागार में संभोधित करते हुए बताया कि वर्तमान दौर में तेजी से तकनीकी विकास हो रहा है, जिसका किसानी पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा है। कीटनाशकों के अंधाधुंध प्रयोग से लगातार कृषि-मित्र जीव मर रहे हैं, जो हजारों टन जैविक विविधताओं से भरा खाद का स्वतः उत्पादन कर रहे थे और भूमि की उर्वरा शब्द को संरक्षित कर रहे थे। इनका पतन होने से कृषि योग्य भूमि की उपज क्षमता में लगातार कमी आ रही है और विभिन्न प्रकार की बीमरियां, जो मनुष्य की जीन्स के लिए खतरनाक है। बढ़ रही हैं। कृषि आधारित दुधारू पशुओं यथा गाय, भैंस व बकरी आदि के दूध उत्पादन भारत में यूरोप की तुलना में बहुत कम आंके गए हैं। इसमें उन्होंने बाजील का उदाहरण देते हुए कहा कि जहां भारतीय नस्ल की गाय लगभग 77 लीटर दूध देती है, वहीं ये गाय भारत में अधिकतम 25 से 30 लीटर दूध ही दे पाती है। ऐसा वहां के चारे व कैटल फीड की वजह से व अन्य बेहतर सुविधाओं के चलते संभव हो पाया। उन्होंने इस संदर्भ में दूध की गुणवत्ता तथा स्वास्थ्य के लिए उसकी उपयोगिता पर बल दिया। उन्होंने आंकड़े देकर अपनी बात को सिद्ध किया कि कीटनाशकों से रासायनिक प्रदूषण तथा फसलों में विषैले तत्वों का लगातार समावेश हो रहा है और प्रदूषित खाद्यानों के सेवन से जन स्वास्थ्य में निरंतर बिगाड़ पैदा हो रहे हैं। इसे एक मानवीय व सामाजिक नुक्सान न मानते हुए गतिमान विकास का नाम दिया जा रहा है।

किसान संबंधी नीति निर्धारण करते समय किन्हीं सोची-समझी साजिश की बू भी मिलती है, जिसके पीछे कारपोरेट घरानों के लाभांशों को सुरक्षित रखने की मंशा बराबर दिखाई देती है। वरना क्या कारण हो सकते हैं कि एक साधारण कर्मचारी को प्रत्येक दस वर्ष बाद वेतन आयोग दिया जाता है, जोकि कहा जाता है कि बड़ी कीमतों यानि महंगाई को देखते हुए ऐसा किया जाता है। लेकिन किसान को उससे बाहर रखा जाता है। क्या महंगाई की मार किसानों पर नहीं पड़ती। भारत में अगर सभी नागरिकों का समान विकास करना है और देश में शांति और स्थिरता को बनाए रखना है तो किसानों में बढ़ती आत्महत्याओं की जड़ में जाकर पड़ताल करना होगा और उन्हें हल करना होगा। ज्यादा दिनों तक इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती। नया भूमि अधिग्रहण बिल लाकर इसकी रही सही कसर भी पूरी की जा रही है।

इस अवसर पर डा. ओम सिंह की प्रकाशित दो पुस्तकों का विमोचन किया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता डा. टी.आर. कुंडू, उर्मिला ग्रेवाल, डा. अुर्जन राणा, संजीव ग्रेवाल, डा. ओम प्रकाश गासो जैसे विद्वानों ने की। मंच संचालन डा. सुभाष चंद्र ने किया। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के अलावा आसपास के गांवों-शहरों से जुड़े अनेक विद्वानों, प्राध्यापकों, किसानों व शोधार्थियों ने हिस्सा लिया। अंत में जिला परिषद के चेयरमैन प्रवीण चौधरी ने सभी अतिथियों का स्वागत किया।

कार्पोरेट लॉबी का मीडिया पर कब्जा

11 अगस्त को कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय के सीनेट हाल में मीडिया एवं संचार संस्थान के तत्वाधान में आयोजित सेमिनार में संबोधित करते हुए वरिष्ठ पत्रकार एवं मैग्सेसे अवार्ड विजेता पी साईंनाथ ने कहा कि आज सूचना का अर्थ मीडिया जनित सूचना है और मीडि या संदेशों को व्यापारिक हित तय करते हैं। कार्पोरेट लॉबी ने पूरी भारतीय मीडिया पर कब्जा कर लि या है। कमोबेश यही स्थिति संसार के अन्य देशों में भी है। महज आठ दस बड़े व्यापारिक घराने अधिकांश मीडिया समूह के मालि क हैं। विज्ञापनदाता के अनुसार ही मीडिया जनित सूचना का स्वरूप तय होता है। वर्तमान में पूरी पत्रकारिता प्रोडक्ट, प्रोड्यूसर कंज्यूमर के बीच सिमटकर रह गई है। साईंनाथ ने कहा कि मीडिया को फ्रोर्थ इस्टेट कहते हुए ध्यान रखें कि ये अब रियल इस्टेट जैसा है।

किसानों की आत्महत्या तो मीडिया में मुद्दा ही नहीं रहा। वर्तमान में देश की 70 प्रतिशत से अधिक आबादी कृषि पर आधारित है। समाचार माध्यमों में कृषि को रिपोर्ट करने वालों की संख्या के न के बराबर है। इसके अभाव में ही पत्रकारिता में कुछ लोग ऐसे भी हैं जिन्हें बैंगन व बाजरे में फर्क की ही जानकारी नहीं है। पिछले 20 सालों में तीन लाख से अधिक किसान आत्महत्या कर चुके हैं, लेकिन सरकार के साथ-साथ मीडिया ने भी इस विषय की अनदेखी की है। उन्होंने कहा कि इनमें से 10 प्रतिशत किसानों को भी मुआवजा नहीं मिल पाया है। किसान की आत्महत्या करने की दर पिछले कुछ वर्षों में 47 प्रतिशत से अधिक बढ़ी है। भारत में मीडिया के विस्फोट के बावजूद पत्रकारिता में ग्रामीण भारत की सबसे अधिक अनदेखी हुई है। मीडिया घराने रिपोर्टिंग ट्रेनिंग पर खर्च नहीं करना चाहते, जिसके कारण हल्की-फुल्की टेलीविजन डिबेट से दर्शकों को गुमराह किया जा रहा है। समाचार चौनलों की चर्चाओं पर चुटकी लेते हुए बोले कि इन चर्चाओं में बैठे चार-पांच कार्टूनों को जमीनी हकीकत का तो पता नहीं होता।

भारत जैसे देश में यहां पाठक क्या चाहता है, इसका खाका कुछ सेठ लोग और उनके चमचे अपनी जरूरत के अनुसार तय कर लेते हैं। बिजनेस को ध्यान में रखकर पत्रकारिता करते हैं तो पत्रकारिता का स्वरूप ही बदल जाता है। उन्होंने रेखांकित किया कि पिछले कुछ समय में जो हंगामे संसार भर में खोजी रिपोर्ट के नाम पर हुए, वो लोग पेशेवर पत्रकार नहीं थे। चाहे जूलियन असांज हो या कई दूसरे क्रांतिकारी लोग, उन्हींने दुनिया को वो सच बताया जो मुख्यधारा की मीडिया के चश्मे से देखना संभव न था। उन्होंने सोशल मीडि या के पीछे की ठगी तथा व्यक्तिगत जीवन में घुसपैठ को उजागर किया कि यहां उपभोक्ता ही उत्पाद है, लेकिन उसका लाभ कंपनियां उठा रही हैं। उन्होंने आशा जताई कि पत्रकारिता समाज लोगों से जुड़ने का ऐसा माध्यम है, जिससे लोगों के जीवन में बदलाव लाया जा सकता है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी डॉ. भीमराव आंबेडकर ने समाज परिवर्तन के लिए पत्रकारिता की थी। उस पत्रकारिता का महत्व हमेशा बना रहेगा।

आलेख

भाषायी साम्प्रदायिकता : कुछ विचार बिन्दु

आलोक वाजपेयी

साम्प्रदायिकता यूं तो मूलतः एक राजनीतिक विचारधारा है और आधुनिक राजनीति (जिसे जन समावेशी राजनीति भी कह सकते हैं) की एक नकारात्मक प्रवृत्ति है। फिर भी हमें याद रखना चाहिए कि कोई भी विचारधारा, चाहे वो बुरी से बुरी या अच्छे से अच्छी हो, किसी सामाजिक सांस्कृतिक शून्य में स्वतः उत्पन्न या प्रभावशाली नहीं हो जाती। उसे समाज के भीतर अपनी पैठ बनाने के लिए जनता का समर्थन, सहयोग व संवेदना पाने के लिए तमाम सांस्कृतिक, सामाजिक-आर्थिक अवस्थितियों का उपयोग (या दुरूपयोग) करना ही होता है। भारत में भाषायी साम्प्रदायिकता भी इसी प्रक्रिया का एक परिणाम है। इस संक्षिप्त वक्तव्य में हिन्दी-उर्दू विवाद के परिप्रेक्ष्य में भाषायी साम्प्रदायिकता पर कुछ विचार बिन्दु रखना चाहूंगा।

1. औपनिवेशिक काल में इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या औपनिवेशिक शासकों द्वारा खूब प्रचारित प्रसारित की गयी और इतिहास शिक्षा का आधार बनी। प्राचीन भारत को हिन्दू काल और मध्यकालीन भारत को मुस्लिम काल लोगों के जेहन में इतना भीतर तक घुसाया गया कि आज भी लोग इस साम्प्रदायिक व अवैज्ञानिक सोच से मुक्ति न पा सके है।

2. चूँकि हिन्दी की लिपि देवनागरी थी और संस्कृत की लिपि भी वही थी, इसलिए हिन्दी हिन्दुओं की भाषा हो गयी। चूंकि उर्दू की लिपि फारसी थी तो उसे मुसलमानों की भाषा होना ही था। यह भाषायी साम्प्रदायिकता का सबसे बुनियाद सवाल बना, जो आज भी सुलझ न सका है।

3. औपनिवेशिक काल की शुरूआत से ही 'प्राच्यवाद' (Orientalism) भी एक मुख्य वैचारिक उपागम बन कर उभरा। एक आत्मविश्वासहीन, पराधीन औपनिवेशिक समाज के लिए सुदूर अतीत में आत्मविश्वास खोजना सभी औपनिवेशिक समाजों की विशेषता रही है और भारत की सांस्कृतिक मनःस्थिति इससे अछूती न रही। उर्दू अपने को उत्कृष्ट भाषा बनाने के फेर में अरबी, फारसी के शरण में जाने लगी और हिन्दी प्राचीन काल की गौरव भाषा संस्कृत से प्राणवायु लेने लगी।

4. ध्यान देने की बात है कि भारत लोक भाषाओं, क्षेत्रीय भाषाओं और बोलियों के मामले में अत्यन्त विविध और समृद्ध रहा है। होना यह चाहिए था कि ये दोनों भाषाएं अपने प्राचीनतम जड़ों में जाकर पुनरूत्थान की मरीचिका में फंसने के बजाय जीवित उपलब्ध विभिन्न जन समुदाय की संस्कृतियों से जुड़ती और अपनी अभिव्यक्ति क्षमता, शब्द सम्पदा को बढ़ाती और वास्तव में जनता की भावनाओं, आकांक्षाओं व संवेदनाओं की वाहक बनतीं। परन्तु इसके बजाय इन्होंने मृत/विस्मृत/सन्दर्भहीन/निष्प्रयोज्य शब्द चयन (जो संस्कृत, अरबी, फारसी से थे) को ही भाषायी उत्कृष्टता समझ लिया।

5. भाषा का यह साम्प्रदायिक विभाजन बीसवीं सदी की शुरूआत तक जड़ पकड़ चुका था। उर्दू में इसका असर एक प्रकार के भाषायी अलगाववाद के रूप में सामने आया, क्योंकि मुसलमान संख्या में कम थे और साम्प्रदायिकता के अलगाववादी चेहरे की तरफ जा रहे थे। हिन्दुओं में इसका असर एक बहुसंख्यकवादी विस्तारवाद के रूप में सामने आया, क्योंकि वो साम्प्रदायिकता के वर्चस्ववादी चेहरे की ओर बढ़ रहे थे।

6. इस प्रकार भाषायी फिरकापरस्ती हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता का मुख्य वैचारिक उपकरण बन गयी और इसने इसे दीर्घकालिक ऑक्सीजन प्रदान की। लेकिन यदि थोड़ा और गहरायी में देखें तो इसके भाषायी और सांस्कृतिक स्तर पर और भी परिणाम हुए, जिनसे उबरने का उपाय कोई भागीरथ प्रयत्न की मांग करता है।

7. इस लेखक का मानना है कि भाषायी साम्प्रदायिकता से मुक्ति के लिए हिन्दी की भूमिका अधिक जिम्मेदारी की होनी चाहिए थी। निश्चित ही, आजादी के पूर्व भाषायी साम्प्रदायिकता से निपटने के लिए स्थितियां अत्यधिक विषम थी, परन्तु आजादी के बाद हिन्दुस्तान में हिन्दी को जो भूमिका निभानी चाहिए थी, उसमें वह सफल नहीं हुयी है।

8. अन्त में, भाषायी साम्प्रदायिकता कई सूक्ष्म स्तरों पर कार्य करती है। जैसे लेखन के क्षेत्र में भाषायी साम्प्रदायिकता क्लिष्ठ, असंप्रेष्य शब्दावली, शब्दाडम्बर, विषय की वस्तुपरक, क्रमबद्ध प्रस्तुतीकरण कर सकने का अभाव, भाषिक चमत्कार ही विद्वता समझना, व्यापक जीवित जन संवेदनाओं की सतत् अनुपस्थिति और प्रामाणिकता का अभाव के रूप में की काफी सूक्ष्म ढ़ंग से सामने आती है।

9. यदि भाषायी साम्प्रदायिकता का अधिक प्रत्यक्ष रूप देखना हो तो कस्बों, शहरों में होने वाली मंचीय कवि सम्मेलनों पर जरूर निगाह डालनी चाहिए। भाषायी साम्प्रदायिकता प्रायः वहां रौद्र नाच करती है और जो कि साम्प्रदायिक देश बखान, घृणा, नफरत, तंगदिली व बुद्धिहीनता का खुला प्रदर्शन वहां होता है।

यह आलेख चूंकि मात्र भाषिक साम्प्रदायिकता को ध्यान में रखकर लिखा गया है। इसलिए इसे समग्र हिन्दी या उर्दू पर टिप्पणी न समझा जाए।

बिजूका-2009 ब्लागपोस्ट से साभार

आलेख

अपनी रीडिंग हैबिट ठीक करें

अनिल चमड़िया

एक हिन्दी भाषी से ये कहा जाए कि वह अपनी रीडिंग हैबिट ठीक करें तो उसे इस वाक्य को समझने में उसे क्या दिक्कत हो सकती है? यानी जिससे बात की जा रही है उसके लिए अपनी शब्द का इस्तेमाल हुआ है। अपनी शब्द को हिन्दी भाषी समझता है। ठीक करें यानी जिससे बात की जा रही है उसे ये दो शब्द भी समझ में आते हैं कि उसकी जिम्मेदारी ठीक करने की है। लेकिन उसे क्या ठीक करना है ये बात दूसरी भाषा के शब्द के जरिये बताई जा रही है। यदि वह रीडिंग और हैबिट शब्द से परिचित नहीं है तो वह इस बात के जवाब में पहेलियां ही बुझा सकता या सकती है। लेकिन जब उससे सीधे यह पूछा जाए कि आप पढ़ने में अपनी रूचि या दिलचस्पी पैदा करें। या फिर आप पढ़ने की आदत डालें तो हिन्दी भाषी को सीधे सीधे बात समझ में आ जाती है। यानी उस पर रीडिंग और हैबिट शब्दों के अर्थ के लिए न तो अलग से अपनी उर्जा खर्च करनी पड़ेगी और ना ही उसकी जरूरत महसूस होगी।

सांस्कृतिक वर्चस्व के अपने नियम है। वे बेहद धीमी गति से काम करते हैं लेकिन धीमे होने का मतलब शांत नहीं होते है। उस धीमी गति में आक्रमकता होती है। सतर्कता होती है। मसलन मैंने एक चैनल में काम करते हुए कंज्यूमर शब्द का अर्थ उपभोक्ता लिख दिया। हिन्दी में उपभोक्ता शब्द शहरी हिस्सों में प्रचलित है। दूसरे दिन चैनल में संपादकीय विभाग के प्रमुख ने मुझे बुलाकर कहा कि कंज्यूमर शब्द का अर्थ उपभोक्ता क्यों लिख दिया? लोगों को आसान शब्द में अपनी बात करनी चाहिए। मैंने कहा कि क्या आसान शब्द कहने की आजादी मुझे यहां मिल सकती है? उसने मेरे तर्क का जवाब तो हां में दिया लेकिन जब कंज्यूमर शब्द का आसान अर्थ बताया तो भड़क गया। मैंने उसे बताया कि कंज्यूमर शब्द का सबसे आसान अर्थ ग्राहक होता है। ग्राहक शब्द को हमारा समाज सदियों से सुन रहा है। हर जाति, हर धर्म, हर वर्ग के लोग इसे समझते है और उसका इस्तेमाल भी करते हैं। लेकिन उसने ग्राहक शब्द का इस्तेमाल करने से मना कर दिया। उसने कहा कि कंज्यूमर शब्द का आसान अर्थ कंज्यूमर ही है।

एक शब्द जब बदलता है तो सदियों से जो बातचीत की जा रही है उसे समझाने और समझने में दिक्कत होने लगती है। सांस्कृतिक रूप से वर्चस्व रखने के इरादे से जो लोग काम करते हैं उन्हें पता है कि यह दिक्कत उनके लिए कितनी बड़ी पूंजी का काम कर सकती है। हम यह सोचे कि यदि एक हिन्दी भाषी को सुनने के लिए यह वाक्य दोहरा जाए कि अपनी रीडिंग हैबिट ठीक करें तो इस भाषा में क्या कोई किताब उपलब्ध हो सकती है? किताब हिन्दी की हो सकती है, अंग्रेजी की हो सकती है लेकिन इस वाक्य में जो भाषा बरती गई है उसकी किताब कहां मिलेगी? यानी इस भाषा में जो बात कहीं जा रही है वह एक उपदेश लगती है और अच्छी भी हो सकती है लेकिन यह कितनी खोखली और साजिशपूर्ण है? पढ़ने के लिए प्रेरित किया जा रहा है लेकिन किताब उपबल्ध नहीं है। क्या किसी अंग्रेजी भाषा की किताब में हिन्दी, उर्दू, पंजाबी के दो चार प्रतिशत शब्द भी डाल दिए जाए तो किसी अंग्रेजी भाषी के लिए वह पढ़ना संभव होगा? पढ़ने का उद्देश्य होता है समझना। ठीक उसी तरह से सुनने और सुनाने का उद्देश्य भी यह होता है कि जो कहा जा रहा है उसे समझा जा सके।

मसलन संघ लोकसेवा आयोग कहता तो है कि वह भारतीय भाषाओं में भी इंटरव्यू लेता है। लेकिन वही बात है कि इंटरव्यू लेने में वह उसी तरह की हरकत करता है जैसा रीडिग हैबिट ठीक करने की सलाह देता है। इंटरव्यू लेने वाला समझता है कि वह अंग्रेजी के जिन शब्दों का इस्तेमाल कर रहा है वह तो बेहद आसान है। लेकिन वह भूल जाते हैं कि आसान उसके लिए हो सकते हैं। सामने वाले के लिए कोई भी शब्द तभी आसान होगा जब उसकी ध्वनि और उसके अर्थ को उसने सुना हो। जैसे उदाहरण ले सकते है कि बिहार के किसी लड़के लड़की से हिन्दी में पूछा जाए कि आप डीसी बनकर कैसे सरकार की योजनाओं को लागू करेंगे? बिहार में डीसी का कोई पद नहीं होता है।झारखंड के पलामू में होता है। हरियाणा में होता है। बिहार में डीएम होता है और डीडीसी होता है। अब बिहार के लड़के और लड़की से सवाल हिन्दी में तो किया जा रहा है लेकिन एक शब्द डीसी को वह कैसे समझे? इंटरव्यू करने वाला यदि एक शब्द इंटरव्यू देने वाले की समझ से अलग शब्द का इस्तेमाल कर लें तो इंटरव्यू देने वाले की सारी योग्यता खारिज हो जाती है। यानी एक योग्य व्यक्ति को अयोग्य घोषित करने के लिए महज एक शब्द काफी हो सकता है।

बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान , मध्य प्रदेश आदि प्रांतो से आने वाले लड़के लड़कियों के लिए हिन्दी में यूपीएससी के सवालों को समझना और उसका जवाब देना मुश्किल नहीं होता है। उनके लिए जो मुश्किलें खड़ी की जाती है, वे गौरतलब है। उनके लिए मुश्किलें एक शब्द के रूप में खड़ी की जाती है। एक हिचक खड़ी की जाती है। वह हिचक कि वह दुभाषिये से पूछकर जवाब देने से पहले ये सोचे कि दुभाषिए से पूछने पर उसे दोयम दर्जे का मान लिया जाएगा। जो वर्चस्व रखने के उद्देश्य से काम करते हैं वे हिचक को एक औजार के

रूप में इस्तेमाल करते हैं। हिचक असुरक्षा बोध से पैदा होती है। अपने ऊपर भरोसे के कमजोर होने के कारण होती है। यानी हिचक में कई तरह के भाव पैदा निहित होते है।

कोई भाषा तब कठिन होती है जब उसमें दूसरी भाषा को उस भाषा पर वर्चस्व बनाने के इरादे से इस्तेमाल किया जाता है। यदि हिन्दी पर संस्कृत के वर्चस्व को बनाने के लिए तैयार किया जाता है तो जाहिर है कि हिन्दी कठिन होगी। वह ज्यादा आसान संस्कृत जानने वालों के लिए ही होगी। यदि हिन्दी में अंग्रेजी के वर्चस्व को बनाने के इरादे से काम होगा तो वैसी हिन्दी भी हिन्दी भाषी के लिए मुश्किल होगी।

संघ लोक सेवा आयोग में एक तो इंटरव्यू लेने वाले के अपने राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आधार होते है। दूसरा दुभाषिये का भी अपना राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आधार होता है। एक इंटरव्यू देने के लिए जाने वाले लड़के लड़की को ये मालूम होना चाहिए कि बोर्ड में उसके लिए एक दुभाषिया मौजूद है। दूसरा उस दुभाषिये को भी संवेदनशील होना होगा। एक बात बहुत स्पष्ट है कि दुभाषिया की जिम्मेदारी बुनियादी तौर पर इंटरव्यू देने वाले को उसकी भाषा में बोर्ड के प्रश्नों को समझना है।यह शब्दों का केवल मशीनी तरीके से अनुवाद करने के लिए नहीं होता है।

यह कहना बेमानी है कि हिन्दी और अपनी दूसरी भाषाओं में सामग्री उपलब्ध नहीं है। 1968 के आसपास भारतीय भाषाओं में उच्च स्तरीय किताबें तैयार करने की योजनाओं पर काम शुरू हुआ। देश के विभिन्न प्रांतों में आकदमियों द्वारा प्रकाशित की गई पुस्तकों को देखे तो यह अंदाज लग सकता है कि भारतीय भाषाएं अनुवाद के लिए व मौलिक काम के लिए कितनी सक्षम है। लेकिन भारतीय राजनीति में एक ऐसा बदलाव उस समय आता है जब इन बुनियादी कामों से समाज और देश को दूर ले जाया गया। उस दौर की किसी भी पुस्तक को उठाकर उस समय के पाठकों से पूछा जा सकता है कि उन्हें उन किताबों को पढ़ने में क्या कभी कोई दिक्कत महसूस हुई? मौजूदा दौर में कॉलेज, स्कूल, यूनिवर्सिटी में जाकर छात्र छात्राओं के बीच ये अध्ययन किया जा सकता है कि उन्हें अपनी भाषा की किताब पढ़ने में दिक्कत ये आ रही है कि उन्हें किताब की बातें समझ में नहीं आती है।

सांस्कृतिक रूप से अपना वर्चस्व बनाने के उद्देश्य से काम करने वाले विचार और लोग सबसे पहले किसी देश में ये करते हैं कि उनके म्यूजियम, पुस्तकालयों को नष्ट कर देते हैं। पुरातत्व को नष्ट कर देते है या अपने कैद में रखने के लिए ले जाते हैं। भूमंडलीकरण के युग में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पहले से जो काम किए जा रहे थे उनका विस्तार किया गया है। किसी भी समाज की नई पीढ़ी को उसकी भाषा से काट दो। किसी भी समाज की नई पीढ़ी को पुरानी किताबों से काट दो। यानी यह समय सीधे हमला करने का नहीं है। खुद के लोकतांत्रिक होने का दावा भी करना है और गुलामी की राह को भी आसान करना है, इस दोमुंहे उद्देश्य ने वर्चस्व कायम करने की योजना को इस कदर घुमावदार बना दिया है कि उसे सीधे सीधी देखना मुश्किल होता है।

संघ लोकसेवा आयोग भारतीय भाषाओं में इंटरव्यू लेने की नीति की घोषणा करता है लेकिन वह व्यवहार में अंग्रेजी के वर्चस्व को बनाए रखने की कोशिश करता है तो इसके क्या अर्थ निकाले जा सकते हैं? वर्चस्व तभी कायम रहता है और होता है जब चौतरफा घेराबंदी हो। हमारी समाज व्यवस्था में पुरानी संस्थाएं कायम है और नए संस्थानों में घुसी हुई है। गुलाम बनाना और गुलाम बनने के लिए तैयार रहना यह मानसिकता संस्था के रूप में काम करती है। यह किसी व्यक्ति से जुड़ा विचार नहीं है। इसका सांस्थानिक रूप होता है।

सम्पर्क : 09868456745

हास-परिहास

भाषा का धंधा

अदालत में देहाती अपनी भाषा में अपना पक्ष स्वयं रख रहा था। इस पर जज ने कहा कि मुझे आपकी भाषा समझ में नहीं आ रही। आप वकील कर लीजिए।

किसान ने तुरंत जवाब देते हुए कहा कि आपको मेरी भाषा समझ नहीं आ रही, तो आप करो वकील।

आवरण

बारात को पंक्ति में बैठाकर खाना खिलाया जा रहा था। खाना परोसने वाले हर पकवान के साथ जी शब्द लगाकर परोस रहे थे। जलेबी जी, लड्डू जी, बालूशाही जी, जल जी, वगैरह-वगैरह। बाराती मजे से खा रहे थे।

बारात घर में आकर सभी खाने की तारीफ करने लगे। खूब तारीफ हो रही थी। एक ने कहा कि बाकी खाना तो सब ठीक था, लेकिन जल जी तो बिल्कुल पानी था।